CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हि. ५६६
११६२

हिन्दी तृतीय पत्र

6.2v

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्थान

लौटानेकी
तिथि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बी० ए०

११.६५१

हि०१६६

हिन्दी-तृतीय पत्र

कृपया इस ग्रन्थको निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व
लौटा दें। विलम्बसे लौटानेपर ५ पैसे
प्रतिदिन दण्ड देना होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक की ओर से—

बी० ए० के हिन्दी-तृतीय पत्र का विषय इतना विस्तृत और गम्भीर है तथा उसकी सामग्रियों के एक साथ संकलन का भी कुछ ऐसा अभाव है जिसके कारण तद्विषयक छात्रों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन कठिनाइयों के यथासम्भव निराकरण के उद्देश्य से ही इस पुस्तक का प्रणयन हुआ है जिसमें उस पत्र के प्रायः सभी पहलुओं तथा आवश्यक अंगों पर ध्यानपूर्वक यथायोग्य सामग्रियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

हिन्दी-साहित्य के जन्म और विकास से लेकर उसके आधुनिक विस्तार तक के विविध क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है उसकी इसमें समुचित चर्चा की गई है। हिन्दी अनुवाद और सन्धि-विग्रह के साथ संस्कृत के निर्धारित खण्ड का भी इसमें उचित उल्लेख हुआ है जो इसकी पूर्णता तथा उपयोगिता में चार चाँद लगा देता है। इन विशेषताओं से युक्त इस पुस्तक से तत्सम्बन्धी छात्र सम्यक् लाभ उठा सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। अन्त में छापे की त्रुटियों के लिये मैं आप से क्षमा-प्रार्थी हूँ।

—प्रकाशक

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
17869

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१. हिन्दी-साहित्य का प्रस्तावना-काल और उसका महत्त्व [सिद्धों और नाथों के साहित्य का मूल्यांकन]		१
२. वीर-गाथा-काल और उसका महत्त्व [चारण-काल के साहित्य का मूल्यांकन]	...	८
३. भक्ति-काल : हिन्दी का स्वर्णयुग	...	१३
४. हिन्दी का ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति-काव्य	...	२२
५. हिन्दी की प्रेमाख्यानक काव्यधारा	...	३१
६. हिन्दी का सगुणमार्गी रामभक्ति-साहित्य	...	३५
७ हिन्दी का सगुण मार्गी कृष्णभक्ति-साहित्य	...	३९
८. रीतिकाल : उसकी विशेषताएँ और महत्त्व	...	४४
९. हिन्दी कहानी : उद्भव और विकास	...	४९
१० हिन्दी आलोचना : एक दृष्टि	...	५६
११. हमारा रंगमंच	...	६५
१२. हिन्दी-निबंध-साहित्य : एक दृष्टि	...	६९
१३. हिन्दी के गीत और गीति-काव्य	...	८४
१४. हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास	...	९०
१५. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास	...	९६
१६ रहस्यवाद और हिन्दी-काव्य	...	१०१
१७ छायावाद	...	१०६
१८ प्रगतिवाद	...	११३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१९ हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा ... १२९
२० प्रेमचन्द की उपन्यास-कला ... १३५
२१. प्रेमचन्द : कहानीकार ... १४९
२२. प्रसाद के नाटक ... १६१
निर्धारित संस्कृत खंड एवं हिन्दी अनुवाद तथा संधि-विग्रह ... १७५ से २१५

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी-साहित्य का प्रस्तावना काल और उसका महत्त्व

(सिद्धों और नाथों के साहित्य का मूल्यांकन)

प्रत्येक भाषा का विकास बोली से आरंभ होता है और बोली जब भावाभिव्यक्ति की क्षमता ग्रहण कर साहित्य की भाषा बनती है तो उसके विकास का पता लगाना जटिल हो जाता है। हिन्दी-साहित्य का विकास कब और कैसे हुआ,—इसका पता लगाना अत्यंत दुरूह और दुष्कर है। इसके अनेक कारण हैं। बोली को साहित्य का रूप धारण करने में सदियों का समय बीता होगा और उस लम्बे काल का साहित्य लिखित नहीं, मौखिक रहा। जो लिखित साहित्य मिलता भी है, वह बाद में लिखा गया है, या मौखिक-परम्परा से प्राप्त है। इसलिए वह अपने मूल रूप में नहीं रह पाया; अपने समय की भाषा में भी नहीं लिखित हो सका। उसमें जोड़-तोड़ भी इतने हैं, कि उन्हें हम प्रामाणिक भी नहीं मान सकते। फिर इतने दीर्घकाल का साहित्य विनष्ट भी हो गया होगा, या जीर्ण-शीर्ण इधर-उधर पड़ा है। अतएव हिन्दी के आदिकाल का निश्चित पता हम अनुमान से ही दे सकते हैं।

हमारी हिन्दी भाषा का सीधा लगाव अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत से है। संस्कृत भाषा के बाद प्राकृत भाषा का और उसके बाद फिर अपभ्रंश भाषाओं का विकास किस प्रकार युग की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में धीरे-धीरे होता गया, यह एक लम्बी और रोचक कहानी है। इससे हमें इतना ही याद रख लेना है कि हिन्दी भाषा ने संस्कृत का गूढ़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन और चिंतन तथा प्राकृत और अपभ्रंश का ऊर्ध्वस्वित जीवन-रस विरासत के रूप में ग्रहण किया है। यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि हिन्दी का प्राचीनतम रूप अपभ्रंश से मिलता-जुलता होगा। क्योंकि हिन्दी उसकी गोद से ही धीरे-धीरे खड़ी हुई। इधर के साहित्यान्वेषियों ने अनेक प्राचीन ग्रंथों का पता लगाया है और उन पर अपने निष्कर्ष दिए हैं। ऐसे विद्वानों में पं० हरप्रसाद शास्त्री ("बौद्ध गान और दोहा" के लेखक); डा० सहीदुल्ला ('ला चार्ट्स मिसतीक्स कान्ह ऐन्द सरह' के लेखक); डा० प्रबोधचंद्र बागची (अनेक 'दोहा कोषों' के संकलन-कर्त्ता) तथा पं० राहुल सांकृत्यायन (गंगा पुरातत्त्वांक में 'हिन्दी के आदि कवि' तथा पुरातत्त्व निबंधावली के लेखक) मुख्य हैं। इनके प्रयत्नों और निष्कर्षों के अनुसार हम हिन्दी-साहित्य के प्रारंभिक-काल में जो रचनाएँ पाते हैं उनमें साम्प्रदायिक भावनाएँ ही प्रबल मान सकते हैं। किन्तु इन रचनाओं का इतिहास में अपना महत्त्व है। एक, तो इस कारण कि इनका मूल भावनात्मक और सैद्धांतिक तत्त्व (Emotional and philosophic content) प्राचीन दार्शनिक भावधारा का विकास हो या न हो, तत्कालीन लोक-चेतना का प्रतिफलन है, और है प्रथम जन-आह्वान। दूसरे, इस कारण कि इस भावनात्मक और दार्शनिक परम्परा की क्रिया-प्रतिक्रिया हिन्दी-साहित्य के इतिहास में बाद के युगों में होती रही—जैसे कबीर आदि संतों की वाणी में उसका सुविकसित दृढ़ और तनिक उग्र रूप देखा जा सकता है, तो छायावाद में उसका सुमधुर रागात्मक और तनिक अन्तर्मुखी, वैयक्तिक रूप। तीसरे, इस कारण भी कि इनकी रचना से छंद, गीत आदि बाह्य-विधान को, यहाँ तक कि जन-भाषा को विशेष बल मिला।

हिन्दी का यह प्रारंभिक काल था और लगभग सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा जिसमें सिद्धों, नाथों और जैनियों ने साम्प्रदायिक एवं साहित्यिक रचनाएँ कीं। इस काल को हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'प्रस्तावना काल' ही कहेंगे क्योंकि इस काल में हिन्दी-साहित्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में अपनी भूमिका बाँध रहा था, पीठिका तैयार कर रहा था। इस कारण इस काल की रचित सामग्री में यदि भाषा अनगढ़ और बेतरतीब हो, उस पर भी अपभ्रंश की भरमार हो, और साहित्य में साम्प्रदायिक रोब प्रधान हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

सिद्ध-साहित्य—लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी तक पूर्वीय भारत में सिद्धों ने जन-भाषा में अपनी साधना-सम्बन्धी रचनाएँ कीं। इन सिद्धों की संख्या चौरासी है। इनमें सरहपा सबसे प्राचीन समझे जाते हैं, इसलिए हिन्दी के आदि कवि भी कहला सकते हैं। सरहपा ने सहज-संयम, पाखंड-आडम्बर-भर्त्सना, जाति-पाँति तथा उच्च-नीच-भेद, गुरु-सेवा, महासुख की प्राप्ति आदि के सम्बन्ध में कविताएँ की हैं।

इन चौरासी सिद्धों में सरहपा के अतिरिक्त भुसुकिपा, लुईपा, डोम्बिपा, कण्हपा, गोरक्षपा, तिलोपा, शान्तिपा, धर्मपा आदि के नाम मुख्य हैं।

बौद्ध-धर्म में विकार आने पर वज्रयान सम्प्रदाय भी विकृत हो उठा। उस विकृत वज्रयान, मंत्रयान आदि से ही इन चौरासी सिद्धों के साहित्य का लगाव है। इन सिद्धों ने सुरा-सुन्दरी का उपभोग एक दार्शनिक दृष्टि से उचित कहा—घृणा से ऊपर उठने के लिए, घृणित और जघन्य को भी आत्मसात करने के लिए। सिद्ध-साधना तंत्र-प्रधान हठयोग की पद्धति थी। महासुख या शून्य तत्त्व साधक का परम ध्येय था। सहज संयम उसकी प्राप्ति का सरल मार्ग था। रूढ़ि, परम्परा, अन्धविश्वास, जातिभेद, शास्त्र-ज्ञान यानी समस्त बाह्याडम्बर को सिद्धों ने चुनौती दी। यही सिद्धों का महत्त्व था।

नाथ-साहित्य—चौरासी सिद्धों में गोरक्षपा का नाम भी लिया जाता है। ये अत्यन्त तेजस्वी सिद्ध हुए और इन्होंने अपना अलग पंथ चलाया। इस पंथ को नाथ-पंथ कहते हैं क्योंकि गोरखनाथ ही इसके प्रवर्त्तक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। नाथों की संख्या नौ है। उनमें गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधर आदि तो मुख्य हैं ही, सन्त ज्ञानेश्वर भी प्रसिद्ध शिष्यों में हैं।

सिद्ध बौद्ध था नाथ शैव। सिद्ध वाममार्गी थे, नाथ अपेक्षया ऋजु-मार्गी। सिद्ध पंच मकारों (पंच मकार—मांस, मदिरा, मत्स्य, माणिक्य और मैथुन) का खुलेआम उपभोग करते थे। अतएव उनकी चारित्रिक विशुद्धता और नैतिक उदात्तता पर शंका की जा सकती है। किन्तु नाथ चरित्र के दृढ़ थे, नाद और विन्दु इनकी साधना के अंग थे।

नाथों के हठयोग को हम सिद्धों की साधना की प्रतिक्रिया और विकास मान सकते हैं। इस साधना में भी एकेश्वरवाद पर विश्वास था और मूर्त्तिपूजा, देवोपासना, शास्त्र-विहित कर्म और पंडितों के आडम्बरी ज्ञान पर अविश्वास था। इसलिए मुसलमानों और शूद्र कही जाने वाली जातियों, दलितों-उपेक्षितों के लिए इस मत में बहुत आकर्षण था।

जैन-साहित्य—जैन-साहित्य जब से जन-भाषा में लिखा जाने लगा तब से हिन्दी-भाषा और साहित्य की दृष्टि से वह इतिहास का महत्त्व-पूर्ण अंग हो गया। अधिकांश दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य अपभ्रंश में है। जैन कवियों में सर्वप्रथम कवि स्वयंभूदेव हैं जिन्होंने पउम चरिउ (पद्म-चरित्र), रिट्ठिमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित), पंचमि चरिउ (नाग-कुमार चरित्र) स्वयंभू छंद आदि की रचना की। कवि पुष्पदंत ने राष्ट्रकूट महाराज कृष्णराज तृतीय तथा उनके पुत्र के आश्रय में रह कर अनेक खंड-काव्य और प्रवन्ध-काव्य लिखे जिनमें तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु, णायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, और कोश ग्रन्थ मुख्य हैं। मुनिराम सिंह (सं० १०५७) ने पाहुण दोहा लिखा। हेमचंद (सं० १२१६-१२२६) ने सिद्ध हेमचंद शब्दानुशासन, कुमारपाल चरित आदि महत्त्वपूर्ण लिखे। हेमचंद गुजरात के सोलंकी राजा सिद्ध-राज जयसिंह और उनके भतीजे कुमारपाल के श्रद्धास्पद थे। हिन्दी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्य इन जैसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के उद्भट पंडित का ऋणी है।

इनके अतिरिक्त सोमप्रभसूरि, जिन पद्मसूरि, विनयचंद्र सूरि, मेरुतंग आदि भी प्रसिद्ध जैन रचनाकार हुए।

जैन साहित्य सिद्धों और नाथों के साहित्य से अधिक सम्पन्न और काव्यात्मक है। साम्प्रदायिकता तो उनमें भी है, किन्तु काव्य की जो छटा उनकी रचनाओं में मिलती है, लौकिक प्रेम कथाओं की रसमयता जो उनमें प्राप्त होती है तथा प्राचीन कवियों की रचनाओं के उदाहरणों में तत्कालीन काव्यधारा का जो आभास वहाँ मिल जाता है, वह उनकी विशेष महत्ता को प्रमाणित करता है।

इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हुए जो धार्मिक, आध्यात्मिक एवं साम्प्रदायिक घेरे से बिलकुल अलग थे। ऐसे कवियों में चार प्रमुख हैं—अब्दुर्रहमान, बब्बर, अमीर खुसरो और मुल्ला दाऊद। अब्दुर्रहमान का संदेश रासक (संनेह रासय), बब्बर की स्फुट शृंगारी रचनाएँ, अमीर खुसरो का विविध साहित्य तथा मुल्ला दाऊद की प्रेम-कहानी चंदावत हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्मरणीय है।

इस प्रस्तावना-काल के युग-संधि के कवि हैं विद्यापति जो युग के सबसे प्राणवान और जनप्रिय कवि कहे जा सकते हैं। विद्यापति अपनी भावप्रवणता, आर्द्रता, रसमयता और माधुरी के कारण युग के ही नहीं, युग-युग के कवि हैं। विद्यापति का राधाकृष्ण सम्बन्धी उत्कट शृंगार वास्तव में माध्यम है, साधन है, प्रेषणीयता का, प्रभविष्णुता का। तन्मयता के लिए, तीव्र भावाकुलता के लिए प्रयुक्त यह शृंगार कुछ ऐसा तीखा और उन्मादकारी हो उठा है कि वही प्रधान-सा ध्वनित होता है। इस ध्वनन में जो पार्थिवता अथवा ऐन्द्रिकता भासती है उसका कुछ कारण तो यह भी है कि हम ग्राहक भी कम पार्थिव और ऐन्द्रिक नहीं। क्योंकि समस्त उन्मद शृंगार के निविड़ अन्तराल में एक प्रशांत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिवत्व, एक सर्वथा कुण्ठाहीन और सात्त्विक निष्ठा, जीवन और उसकी जीवंत चेतना की एक अतीन्द्रिय स्वीकृति विराजमान है, एक ऐसी उष्मा है, आकर्षण है, विह्वलता है जिसे चैतन्य महाप्रभु बन कर ही हम पकड़ सकते हैं। अन्यथा उसके साधन पक्ष को साध्य समझ कर हम विद्यापति को शृंगारी ही मान सकेंगे। यह मान कर भी हम विद्यापति की मानहानि नहीं कर लेते। क्योंकि सौंदर्य की ऐसी गहरी, व्यापक और उन्मद अनुभूति, इतनी तन्मयकारी वेसुधी में और कहीं मिलने को नहीं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का यह प्रस्तावना-काल कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह काल एक ऐसा पुण्य पर्व था जिसमें शताब्दियों की धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक परम्पराएँ हमारी भाषा में अवतरित हुईं। जन-भाषा में इतनी व्यापक रचना, इतना व्यापक आन्दोलन, जनमत के विकास का ऐसा प्रयास कम महत्त्वपूर्ण नहीं। अतएव सांस्कृतिक, दार्शनिक, साहित्यिक दृष्टि से यह काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस काल के साहित्य का वर्ण्य विषय आध्यात्मिक और लौकिक दोनों क्षेत्र रहे। आध्यात्मिक क्षेत्र में सिद्धों का साहित्य, जैन-साहित्य और नाथ-साहित्य प्रधान हैं तो लौकिक क्षेत्र में शृंगार और प्रेमकथा के साहित्य के साथ-साथ खुसरो का मनोरंजन-साहित्य भी स्मरणीय है।

आध्यात्मिक क्षेत्र का साहित्य धार्मिक और दार्शनिक तो था ही, उसका प्रबल पक्ष सामाजिक भी था। इन सभी मतों के साहित्य में एक वेग था जो चारों ओर के वातावरण का परिष्कार करने को क्रियाशील हुआ। इस आन्दोलन में अंधविश्वासों, रूढ़ियों को चुनौती दी गयी। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अधिक से अधिक उपयोग करने और उन्हें स्वाभाविक क्षेत्रों में ले जाने का आदर्श इन मतों ने दिया।

इस काल के साहित्य को हम वहुत अंश में जन-साहित्य कह सकते हैं। इस साहित्य ने हमारी धार्मिक विकास-शृंखला को मजबूत बनाया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा चिन्तन को मुक्त और स्वच्छन्द किया। इस हेतु इस साहित्य के अध्ययन से हम सिद्ध सम्प्रदाय, नाथ सम्प्रदाय और संत सम्प्रदाय में एक ऐसी विकासोन्मुखी विचार-परंपरा पाते हैं जिससे हमारे इतिहास की धार्मिक रचनाओं पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है।

इस साहित्य का भाषा के विकास की दृष्टि से भी अपना महत्त्व है। हम इस साहित्य में जन-भाषा की रूपरेखा और हिन्दी की प्राचीनतम आकृति पाते हैं।

सिद्ध और नाथ-साहित्य की रचना में हमें 'रहस्यवाद' का बीज मिलता है। हठयोग, संयम, भक्ति आदि का प्रभाव तो स्पष्ट ही कबीर आदि संतों पर और उनके साहित्य पर पड़ा; उनकी उग्र और आक्रामक शैल भी कबीर आदि में विकसित होकर आई।

इस प्रकार हम निर्विवाद रूप में कह सकते हैं कि यह काल सांस्कृतिक, दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए बीज वपन का काल रहा है। बाद का साहित्य इस पृष्ठभूमि का ही विकास है—क्रियात्मक रूप में अथवा प्रतिक्रियात्मक रूप में।

—:०:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीर गाथा काल और उसका महत्त्व

(चारण-काल के साहित्य का मूल्यांकन)

सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध से हिन्दू राज्य की केन्द्रीभूत सत्ता विनष्ट होने लगी। उत्तर-पश्चिम के मुसलमानों ने लाभ उठाकर बारहवीं सदी तक उत्तर भारत के अधिकांश भाग पर कब्जा जमा लिया। इस काल का इतिहास प्राचीन भारत की वृद्धावस्था का इतिहास है, शक्तिहीन, विवश और पंगु। अनेक छोटे-छोटे राज्यों के उत्थान-पतन की कहानी आपसी कलह-द्वेष के संघर्ष से गुथी हुई है। राठौर, सोलंकी, पँवार, कछवाहा, परिहार, चंदेल, तोमर, चौहान आदि राजपूतों का शासन छिट-फुट चल रहा था। राजनीतिक परिस्थिति अनिश्चित थी। पारस्परिक युद्ध प्रति वर्ष वर्षा की भाँति घनघोर होता था और उस पर मुसलमानी आतंक बिजली और वज्र की तरह त्रासद दीखता था।

ऐसी राजनीतिक अशान्ति के युग में जो साहित्य रचा गया उसमें तत्कालीन परिस्थिति प्रतिफलित हुई है। राजपूत राजाओं के दरबार में बहुत से चारण और भाट रहते थे। ये लोग अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ गाते थे और उनके वंश तथा चरित का बखान बड़े दर्पयुक्त ढंग से, दैवी आख्यानों में सजा कर करते थे। युद्ध के समय वे अपने आश्रयदाताओं और सैनिकों को प्रोत्साहित करते थे और कभी-कभी खुद ही तलवार पकड़ युद्ध में प्रवृत्त होते थे। शान्ति के समय वे उनके रूप, गुण, ऐश्वर्य आदि की महिमा बखानते थे। सन् १००० ई० से लेकर १४०० ई० तक के इस चार सौ वर्ष के काल को जो हम वीर गाथा काल कहते हैं, वह इसी कारण कि इस अवधि की अधिक रचनाओं में वीर रस की प्रधानता है।

अनेक इतिहासकार इसे वीरगाथा काल की संज्ञा नहीं देते। श्री राहुल सांकृत्यायन ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो प्रकार के भाव पाये हैं—(१) सिद्धों की वाणी और (२) सामंतों की स्तुति। इसलिए उन्होंने इस काल को सिद्ध-सामंत युग कहा है। डा० रामकुमार वर्मा ने इस काल को वीर-गाथा-काल न कह कर 'चारण-काल' कहा है। संभवतः इस कारण कि इस काल की रचनाओं में जो वीर रस है, वह प्रधान नहीं, साध्यम भर है; प्रधान तो शृंगार है। दूसरी बात यह कि 'पृथ्वीराज' को छोड़ कर कोई भी ऐसा नायक नहीं जिसे हम लोकनायक कह सकें, और जो सच्चे रूप में वीर रस के लिए चरित नायक बन सके। तीसरी बात यह कि प्रायः समस्त रचनाओं के रचयिता पेशेवर चारण हैं, दरबारी कवि हैं, जो लोक-मंगल अथवा शिवत्र-रक्षा की दृष्टि से नहीं, वरण अर्थ और यश की प्राप्ति के लिए, स्वार्थ-साधन के लिए अपने आश्रयदाताओं की स्तुति और प्रशंसा करते हैं। इसी हेतु पं० रामचंद्र शुक्ल और पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल को हिन्दी-साहित्य का 'आदिकाल' कहकर वीर-गाथा-काल नाम से अभिहित तो किया है, परंतु यह भी साफ बता दिया है कि वस्तुतः 'हिन्दी का आदिकाल' शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परंपरा विनिर्मुक्त, काव्य-रूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परंपरा-प्रेमी, रूढ़िग्रस्त और सजग और सचेत कवियों का काल है।" ·······
"यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें, तो यह नाम (आदिकाल) बुरा नहीं है। क्योंकि यद्यपि साहित्य की दृष्टि मे यह काल बहुत कुछ अपभ्रंश काल का वढ़ाव ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना लेकर आता है। इसमें भावी हिन्दी भाषा और उसके काव्य-रूप अंकुरित हुए हैं" (१)

इस काल की रचनाएँ अनेक हैं, पर सभी को अब विद्वान् संदेह की दृष्टि से देखते हैं और उनकी प्रामाणिकता पर विवाद करते हैं।

---

(१) हिन्दी साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ७२ एवं ८३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राचीन इतिहास में पुंड या पुष्प नामक कवि और दलपति विजय नामक कवि और उनका खुमान रासो, भुवाल कवि और उनकी भगवद्-गीता, मोहनलाल द्विज और उनकी रचना 'पत्तलि', भट्ट केदार और उनकी रचना 'जयचन्द प्रकाश' तथा मधुकर और उनकी 'जयमयंक जस चंद्रिका' वास्तव में अनिश्चित और पूर्णतः संदिग्ध हैं।

इनके अतिरिक्त जो कवि निश्चित रूप में मिलते हैं वे हैं – नरपति नाल्ह, चन्द, जगनिक, शारंगधर और नल्लसिंह भट्ट।

नरपति नाल्ह का ग्रंथ वीसलदेव रासो गीतात्मक है। कथा गीति-रूप में होते हुए भी प्रबन्धात्मकता लिए हुए है। अनेक प्रकार की घटनाओं से कथावस्तु सजायी गयी है। इसमें धार के राजा भोजराज की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा वीसलदेव के विवाह, संयोग, वियोग और पुनर्मिलन का वर्णन है। अतएव इसमें वीर रस की अपेक्षा शृंगार ही प्रधान है। यह ग्रंथ अपने मूल रूप में अप्राप्य है।

चन्द या चन्दवरदाई हमारे साहित्य का प्रथम महाकवि और उसकी रचना पृथ्वीराज रासो प्रथम प्रबंध काव्य माना जाता है। उनहत्तर अध्यायों में महाराज पृथ्वीराज चौहान की यशोगाथा चन्द ने इस महाग्रन्थ में की है। किन्तु पृथ्वीराज रासो अपने मूल रूप में नहीं मिलता। जो मिलता है, उसमें वहुत सारे अंश बाद के जोड़े हुए हैं। इसलिए अनेक इतिहासकार पृथ्वीराज रासो को ही जाली मानते हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग यह भी स्वीकार नहीं करते कि चन्द नामक कोई कवि भी था। डा० बूलर, मारिसन, गौ० ही० ओझा, मुंशी देवी प्रसाद आदि रासो को अप्रमाणिक मानते हैं। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी रासो को अर्द्ध प्रामाणिक मानते हैं।

जगनिक वीर रस प्रधान गीतिकाव्य आल्हखंड का रचयिता माना जाता है। ऐसा कहा जाता है कि कालिंजर के अधिपति परमाल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के यहाँ जगनिक रहता था जिसने महोबा के प्रसिद्ध योद्धा आल्हा और ऊदल की प्रशस्ति में आल्ह-खंड की रचना की। मि० वाटर फील्ड ने आल्हखंड को पृथ्वीराज रासो का एक भाग मात्र माना है। किन्तु सर जार्ज ग्रियर्सन आल्ह-खंड को रासो से बिलकुल भिन्न मानते हैं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है - 'इस काल में पृथ्वीराज रासो के समान ही जगनिक लिखित परमाल रासो नामक एक ग्रन्थ का नाम मिलता है। कहते हैं कि कालिंजर के राजा परमाल (परमार्दिदेव) के यहाँ जागनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होंने महोबे के दो देश-प्रसिद्ध वीरों आल्हा और ऊदल के चरित्र का एक वीर काव्य लिखा था। फर्रुखाबाद के कलक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने लोक में प्रचलित इन गीतों का संग्रह 'आल्हा-खंड' के नाम से छपवाया था। निःसन्देह इस नये रूप में बहुत-सी नई बातें आ गई हैं और जागनिक के मूल ग्रंथ का क्या रूप था, यह कह सकना कठिन हो गया है। अनुमानतः इस संग्रह का वीरत्वपूर्ण स्वर तो सुरक्षित है, लेकिन भाषा और कथानकों में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। इसलिए चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो की तरह इस ग्रंथ को अर्द्धप्रामाणिक ही कह सकते हैं" (१)

शारंगधर हमीर रासो के रचयिता और नल्ल सिंह विजयपाल रासो के प्रणेता कहे जाते हैं। हम्मीर रासो में रणथंभोर के राजा हमीर का गौरवगान है और विजयपाल रासों में करौली नरेश विजयपाल के युद्धों का ओजपूर्ण वर्णन। किन्तु ये ग्रन्थ या तो मूल रूप में प्राप्त नहीं या साधारण कोटि के हैं।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य का यह काल वीर गाथाओं का था। वीर गाथाओं में चारण कविगण अपने आश्रयदाता राजाओं का यशोगान करते थे। चरित-नायक की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए कवि इतिहास, पुराण, जमीन-आसमान का कुलाबा जोड़ता था और अतिरंजित वर्णन करने में अनेक इतिहास विरुद्ध, भूगोल विरुद्ध कल्पनाएँ

---

(१) हिन्दी साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ६५—६६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता था। अतएव इन्हें सच्चे रूप में चरित-काव्य हम नहीं कह सकते। ये ऐतिहासिक काव्य तो नहीं ही कहे जा सकते। क्योंकि कथा का स्वरूप काल्पनिक होता था। कथा वर्णनात्मक और विवरणात्मक अधिक होती थी।

यह साहित्य दोनों प्रकार का है—प्रबंधात्मक एवं गीतात्मक। प्रबंधात्मक काव्य में पृथ्वीराज रासो प्रमुख है, तो गीतात्मक में बीसलदेव रासो और आल्हा-खंड।

चरण कवियों के चरित-काव्य में राजस्तुति, युद्ध, विवाह आदि के वर्णन ही प्रधान हैं। अतः लोक-चेतना का आभास भी वहाँ नहीं मिलता। इनमें परंपरा से प्राप्त काव्य-रूढ़ियाँ हैं। 'सिर्फ एक बात में इसमें नवीन प्राणों का स्पंदन सुनाई देता है और नवीन वक्तव्य भंगिमा की ताजगी अनुभूत होती है। वह है इस श्रेणी की रचनाओं की वीर दर्पोक्तियाँ। इस साहित्य के पुरुष स्वामी के लिए हँसते-हँसते प्राण दे देते हैं, मदमत्त कुंजर घटा में अवलीलया धँस जाते हैं, दुर्धर्ष शत्रु-वाहिनी से अकेले भी भिड़ पड़ते हैं और उनकी स्त्रियाँ पति के इस वीरत्व पर अभिमान करती हैं और मन-वचन-कर्म से पति के साथ सूर्यमंडल को भेदकर अज्ञात-अननुभूत आनन्दलोक में यात्रा करने के लिए सदा प्रस्तुत रहती हैं।' (१)

इस काल के साहित्य में जो वीर रस है, यद्यपि वह संकुचित असर्यादित और लोक-निरपेक्ष है तथापि भारतीय वीरता के उत्सर्ग वाले रूप को प्रकट करता है। वीर रस के क्रोड में शृंगार भी मनोहारी छटा दिखाता पाया जाता है।

भाषा शास्त्र की दृष्टि से इस काल के ये ग्रन्थ राजस्थान की तत्कालीन प्रचलित भाषा को प्रकट करते हैं। उस भाषा का नाम डिंगल भाषा है। अपभ्रंश से उत्पन्न इस डिंगल भाषा में वीर और शौर्य के वर्णन की अद्भुत क्षमता है।

(१) हिन्दी साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ८१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतएव इस काल के साहित्य का महत्त्व ऐतिहासिक है—ऐतिहासिक इसलिए कि साहित्य और इतिहास की धारा में इसका अपना योगदान है, कुछ काव्यात्मक और कुछ सामरिक। आगे के युगों के वीर-काव्य और राष्ट्रिय काव्य के लिए इस काल के ग्रंथों ने मार्ग-निर्देशन का काम किया।

—:o:—

भक्तिकाल : हिन्दी का स्वर्णयुग

हमारे हिन्दी-साहित्य का इतिहास चार भागों में विभाजित किया जाता है—(१) आदिकाल—जिसमें हम प्रस्तावनाकाल के सिद्ध-नाथ और जैन साहित्य तथा वीरगाथाकाल के समस्त साहित्य को समाहित कर लेते हैं; (२) पूर्व मध्यकाल – जिसे हम भक्तिकाल भी कहते हैं; (३) उत्तर मध्यकाल—जिसे हम रीतिकाल कह कर पुकारते हैं और (४) आधुनिक काल जो भारतेंदु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग आदि के नाम से कई युगों में विभाजित है तथा गद्य के विकास की दृष्टि से गद्य-युग के नाम से महत्त्वपूर्ण भी है। इन चारों कालों में से भक्तिकाल अपनी विशेषताओं, मान्यताओं, स्थापनाओं, तथा काव्य की विविध क्षेत्रीय परिपक्वता के कारण हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग कहा जाता है।

चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दी-भाषी प्रदेश में जो साहित्य था उसके बारे में, "हम केवल इतना जानते हैं कि पूर्वी प्रदेशों में सहजयानी और नाथपंथी साधकों की साधनात्मक रचनाएं प्राप्त होती हैं और पश्चिमी प्रदेशों में नीति, शृंगार, और कथानक साहित्य की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। एक में भावुकता, विद्रोह, और रहस्यवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य है और दूसरी में नियम-निष्ठा, रूढ़िपालन और स्पष्टवादिता का स्वर है;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक में सहज सत्य को आध्यात्मिक वातावरण में सजाया गया है, दूसरी में ऐहलौकिक वायुमंडल में चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में दोनों प्रकार की रचनाएँ एक में सिमटने लगी थीं। दोनों के मिश्रण से उस भावी साहित्य की सूचना इसी समय मिलने लगी जो समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति-साहित्य है।" (१)

जिस धार्मिक आन्दोलन ने भक्ति साहित्य का जन्म दिया उसके बारे में डाक्टर ग्रियर्सन ने लिखा है—"हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक व्यापक और विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी भी देखा है। यहाँ तक कि वह बौद्ध-धर्म के आन्दोलन से भी अधिक व्यापक और विशाल है क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। इस युग में धर्म ज्ञान का नहीं बल्कि भावावेश का विषय हो गया था। यहाँ से हम साधना और प्रेमोल्लास के देश में आते हैं यदि ऐसी आत्माओं का साक्षात्कार करते हैं जो काशी के दिग्गज पंडितों की जाति की नहीं....." (२)

इससे इतना तो स्पष्ट होता है कि भक्तिकाल और उसका साहित्य भारतीय इतिहास में अपना अलग महत्त्व रखता है और उसके पीछे एक व्यापक आन्दोलन रहा है।

कुछ लोग जैसे पं० रामचन्द्र शुक्ल तथा श्यामसुन्दर दास आदि—उस आन्दोलन को हिन्दुओं के निराशावाद की उपज मानते हैं। उनका कहना है कि राजनैतिक तथा धार्मिक अस्तव्यस्तता के उस युग में जब मुसलमानों का दबदबा जोरों पर था, पतनोन्मुखी हिन्दू जाति ने निराश होकर भगवान् की शरण ली और भक्ति की भावधारा उमड़ पड़ी। दूसरे शब्दों में राष्ट्रियता की चिता का भस्म ही भक्ति के लिए भभूत बना,

(१) हिन्दी-साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ८७
(२) हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा उद्धृत : हिन्दी-साहित्य पृष्ठ ८८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाथ की तलवार और ढाल दोनों के दोनों जब टूट-फूट गये तो वे माला और एकतारा में बदल गये। मतलब यह कि समस्त भक्ति-साहित्य निराश, हारी हुई और हीन-भावना-ग्रस्त पराधीन जाति की उपज है। जार्ज ग्रियर्सन का अनुमान है कि भक्ति-आन्दोलन वास्तव में ईसाइयत की देन है। किन्तु दोनों बातें भ्रामक हैं। भक्ति-आन्दोलन न तो पराजित और निराश जाति के नैराश्य का प्रतिफलन है और न ईसाइयत की देन। वह भारतीय धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों से उद्भूत एक स्वाभाविक आन्दोलन है, जिसके लिए सैकड़ों वर्षों से मेघखंड एकत्र हो रहे थे। सन् ईस्वी की सातवीं शताब्दी के पूर्व से ही दक्षिण में वैष्णव भक्ति ने जोर पकड़ा था। इसके पुरस्कर्ता दक्षिण की नीच समझी जाने वाली जाति में उत्पन्न आलवार भक्त कहे जाते हैं, जिनकी संख्या बारह है। इन्हीं आलवारों की परंपरा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य रामानुज हुए। रामानुजाचार्य ने ही कथित नीच जातियों में प्रचलित ऐकान्तिक भक्ति धर्म को बहुमान दिया और यही भक्तिवाद शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया।

यह मध्यकाल भारतीय इतिहास का अतीव संघर्षपूर्ण काल था। देश की केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो गई थी। पश्चिम से मुसलमानों का आक्रमण हो रहा था। ये आक्रमण एक संघठित धर्म और संस्कृति के आक्रमण थे। इस्लाम भारत के समस्त धर्म, दर्शन, आचार-विचार को तोड़ डालने की प्रतिज्ञा लेकर आया। फलतः देश की सामाजिक स्थिति और धार्मिक विश्वास पर घोर प्रतिक्रिया हुई। जाति-प्रथा कठोर होती गयी, चिंतन और मनन की क्रिया तीव्र होती गयी। जाति-प्रथा के कसाव का फल यह हुआ कि अनेक जातियाँ किनारे पड़ गयीं और छट गयीं जिनमें से जुलाहा जाति एक प्रधान जाति है जो धीरे-धीरे मुसलमान हो गयी। ऐसी जाति में कबीर हुए थे।

इन मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ-साथ कुछ मुस्लिम फकीर में आये जो भारतीय अद्वैतवाद के रूप को मानते थे और अपने को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूफी संत कहते थे। इन सूफियों ने बड़ी ही रमणीय प्रेमकथाएँ लिखीं जिनमें हिन्दू-मुस्लिम एकता के तत्त्व वर्तमान हैं। ऐसे सूफी कवियों में जायसी प्रमुख हैं। इन सूफियों का प्रभाव कबीर आदि संतों पर भी कुछ न कुछ पड़ा था।

उन दिनों उत्तर भारत में नाथ-और अन्य बौद्ध तथा शैव चिंतक बाह्याचार और रूढ़ियों का विरोध कर रहे थे। इनके पास देने लायक कोई नयी सामग्री न थी। तभी दक्षिण से भक्ति की नई धारा उत्तर भारत को आई। इन भक्तिवाद ने कठोर वर्ण-व्यवस्था को शिथिल किया। इन भक्तों के पास अनन्त शक्ति, ऐश्वर्य और प्रेम के समुद्र भगवान् की भक्ति का संबल था। उस भगवान् के समक्ष नीच और उच्च का भेदभाव नहीं। यह तत्कालीन समाज के लिए एक महत्त्वपूर्ण निधि थी।

मध्यकालीन उत्तर भारत की जनता का विश्वास अवतारों पर था। किन्तु इस युग में अवतार का हेतु बदल गया। गीता के अनुसार दुष्ट दमन और साधुओं का परित्राण ही अवतार का हेतु है। पर अब भक्ति की दृष्टि से यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला का विस्तार करना है और भक्त भगवान् की भक्ति मोक्ष या कैवल्य या बैकुंठ पाने की इच्छा से नहीं करता। वह केवल भक्ति के लिए भक्ति करता है। भक्ति का साध्य भक्ति है। उसका अन्त भक्ति है। ऐसी भक्ति ऐकांतिक भक्ति कहलाती है। मध्यकाल के भक्तिमार्ग में इसी ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है। अवतारों की कल्पना ने इसे बहुत सहारा दिया। समस्त सगुण भक्ति के मूल में अवतार की कल्पना है। क्योंकि भक्ति के लिए भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध आवश्यक है और अवतारों से ही उस लीला का विस्तार होता है जिसका श्रवण, मनन आवश्यक है; अवतारों से ही भगवान् के रामकृष्ण आदि विविध नामों का उद्भव होता है जिनका कीर्त्तन, जप भक्ति का प्रधान साधन है। उत्तर भारत में अनेक अवतारों के बीच राम और कृष्ण को मुख्यता मिली।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर भारत में भक्ति की धारा को नये सिरे से प्रवाहित करने का श्रेय दो आचार्यों को है—स्वामी रामानन्द और महाप्रभु वल्लभाचार्य। स्वामी रामानन्द का सम्बन्ध दो श्रेणी के भक्तों से बतलाया जाता है। एक तो वे जो निर्गुण भाव से राम के उपासक भक्त थे, दूसरे वे जो राम की उपासना अवतार रूप में करते थे और सगुण भाव के भक्त थे। स्वामी रामानन्द का सम्बन्ध इस कारण एक ओर तो निर्गुण भाव के संत कवि कबीर से है, तो दूसरी ओर सगुण भाव के रामभक्त कवि तुलसी से है। इन दोनों प्रकार के भक्तों में प्रधान समानता राम नाम की है। दूसरे आचार्य वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार किया और भगवान् के लीला-पक्ष पर अधिक जोर दिया। बंगाल के श्री चैतन्यदेव ने भी राधाकृष्ण की लीला को भक्ति का रूप दिया। इस कृष्णभक्ति-परम्परा में रूप गोस्वामी, सनातन, जीव आदि शास्त्रज्ञ विद्वान् और सूरदास, नंददास, कुंभनदास आदि श्रेष्ठ कवि हुए।

इस प्रकार मध्ययुगीन भक्तिसाहित्य को श्रीरामानन्द और श्रीवल्लभाचार्य ने प्रधान रूप से प्रभावित किया। तत्कालीन समस्त साधनाओं पर उन आचार्यों की भावधारा का प्रभाव पड़ा। "निर्गुण भावापन्न योगप्रधान भावधारा के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ा और वह निर्गुण मार्ग के रूप में प्रकट हुआ। प्रेमलीला-प्रधान सगुण भावधारा के क्षेत्र में वह श्रीकृष्ण अवतार को केन्द्र करके अपूर्व प्रेमाभक्ति के रूप में प्रकट हुआ और स्मार्त भाव प्रधान पौराणिक विश्वासों के क्षेत्र में उसने राम अवतार को केन्द्र करके अत्यन्त विशाल रूप में आत्मप्रकाश किया। इस प्रकार यह भक्ति का अंकुर तीन रूप में विकसित हुआ। यही भक्ति साहित्य हिंदी की मुख्य भावधारा है। इसी ने उत्तर भारत के लोकचित्त को मथित और चालित किया है, उसे नवीन लक्ष्य और नवीन आदर्श दिये हैं।" (१) इन तीनों के साथ तत्कालीन सूफी काव्य-

(१) हिन्दी-साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी—१०६-११०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारा को जोड़ देने पर भक्तिकाल की चारों भावधाराएँ इस प्रकार हो जाती हैं—

(१) निर्गुण मतावलम्बी	(i) ज्ञानाश्रयी काव्यधारा—प्रमुख कवि कबीर (ii) प्रेममार्गी काव्यधारा—,, ,, जायसी
(२) सगुण मतावलम्बी	(i) रामाश्रयी काव्यधारा — ,, ,, तुलसी (ii) कृष्णाश्रयी काव्यधारा—,, ,, सूरदास

ये चारों धाराएँ हिन्दी-साहित्य की चारों दिशाओं को घेरने वाली हैं। अपने-अपने क्षेत्र में चारों महान् हैं। चारों के प्रतिनिधि कवि ऐसे महिमामय हैं कि विश्व-साहित्य में भी गौरव के साथ स्थान पाते हैं, तथा चारों की परम्परा अब भी अक्षुण्ण है। हिन्दी-साहित्य के पूर्ववर्ती समस्त आन्दोलनों और उद्वेलनों से प्राप्त ये सिद्धियाँ हैं, तथा हिन्दी-साहित्य के परवर्ती समस्त काव्यधाराओं के लिए अखंड अक्षय स्रोत।

इस काव्यधारा के पीछे तत्कालीन महान् आचार्यों का ठोस दर्शन है। रामानुजाचार्य, रामानन्द, मध्व, निम्बार्क, वल्लभाचार्य आदि के ठोस, गंभीर चिंतन के हिमालय से ही ये काव्यधाराएँ गंगा-यमुना, ब्रह्मपुत्र और सिन्धु की भाँति उत्तरी भारत की लोक-भूमि पर प्रवाहित हुईं। अतएव इस साहित्य को चिंतन और दर्शन का सत्यं प्राप्त है, भक्ति का सुन्दरं उपलब्ध है और लोक-मंगल का शिवं ध्येय है। इस काव्यधारा ने दर्शन और शास्त्र के साथ जन-जीवन को मिलाया। यही कारण है कि अपनी महिमा में यह महान् है।

इस काव्यधारा में युग-युग से प्रयोगशील विविध शैलियों, विन्यासों, रचना-प्रकारों, संगीत-धाराओं का अपूर्व मेल है। तभी हम इस युग के साहित्य में महाकाव्य और गीतिकाव्य, छप्पय और कवित्त, बरवै और सोरठा आदि काव्य के अनेकानेक रूपों के श्रेष्ठतम उदाहरण पा सकते हैं। प्राचीन हिन्दी काव्य भाषाओं में अवधी और व्रज इसी काल में अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरम श्रेष्ठता प्राप्त कर सकीं और ये दोनों भाषाएँ ही हिन्दी काव्य की सबसे आदृत भाषाएँ हैं। इस काल के समस्त काव्य को श्रेष्ठ गायकों का कंठ और संगीत-माधुरी प्राप्त हुई थी। जभी तुलसी का महाकाव्य हो या सूर का गीतिकाव्य, सर्वत्र हम एक तन्मयकारी सांगीतिकता, एक आह्लादकारी झंकृति पाते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि इस युग विशेष को प्रायः सभी कलाओं ने समृद्ध किया था। इन ललित-कलाओं के सामूहिक योगदान से ही इस काल की काव्य-कला अपने स्थापत्य में दिव्य है, मूर्त्ति-निर्माण में ऐन्द्रिय और मुग्धकारी है, चित्रधर्मिता में भव्य और आकर्षक है, तथा संगीत धर्मिता में तन्मयकारी है। भक्तिकालीन साहित्य भावपक्ष में जितना व्यापक और गहन है, कलापक्ष में भी उतना ही भव्य और महान्।

इस काल के; "पहले का हिन्दी साहित्य किसी बड़े आदर्श से चालित नहीं था। आश्रयदाता राजाओं के गुणकीर्त्तन और काव्यगत रूढ़ियां पर आधारित साहित्य सूक्तियों को जन्म दे सकता है पर वह समाज को किसी नये रास्ते पर चलने की स्फूर्ति नहीं दे सकता। चौदहवीं सदी से पूर्व के साहित्य ने कोई नयी प्रेरणा नहीं दी। किन्तु नया साहित्य मनुष्य जीवन के एक निश्चित लक्ष्य और आदर्श को लेकर चला। यह लक्ष्य है भगवद् भक्ति; आदर्श है शुद्ध सात्विक जीवन और साधन है भगवान के निर्मल चरित्र और सरस लीलाओं का गान। इस साहित्य को प्रेरणा देनेवाला तत्व भक्ति है इसीलिए यह साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य से सब प्रकार से भिन्न है। उसका लक्ष्य था राज्य-संरक्षण; कवियश और वाक्सिद्धि। प्रेरक तत्व के बदलने के कारण १५वीं शताब्दी के बाद का साहित्य बिल्कुल नवीन-सा जान पड़ता है। चंद, जज्जल, विद्याधर, शारंगधर आदि की रचनाओं में अनाडम्बर, स्वस्थ जीवन और अलौकिक पारमार्थिक लक्ष्य प्राप्त करने की स्फूर्तिदायिनी प्रेरणा नहीं है। परन्तु इस युग के साहित्य में वह प्रेरणा पूरी शक्ति के साथ काम करती दिखाई देती है। यही कारण है कि इस काल के आरम्भ में ही कबीर, नानक, सूरदास,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुलसीदास, मीराबाई, मलिक मुहम्मद जायसी और दादूदयाल जैसे महान् साहित्यकार उत्पन्न हुए जो अपने क्षेत्रों में दिक्पाल जैसे दिखाई देते हैं। इस काल का हिन्दी साहित्य ऊर्ध्वबाहु हो कर घोषणा करता है कि लक्ष्य बड़ा होने से ही साहित्य बड़ा होता है।……… इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद सचमुच का लोकभाषा का साहित्य बना। भाषा इसकी वास्तविक और सच्ची है। शैली सहज और प्रसन्न। लोक-प्रचलित काव्यरूपों के साथ जीवन के बड़े लक्ष्य और आदर्श का योग हो जाने से इस साहित्य में अपूर्व तेजस्विता आ गई है। उसके छंदों में किसी प्रकार की कृत्रिमता का बोझ नहीं है। ……यहाँ से हिन्दी कविता ने अपने असली छंदों को पहचाना।" (१)

भक्तिकाल अपने पूर्ववर्ती काल से तो महान् था ही, परवर्ती काल से भी महत्तर था। हिन्दी-साहित्य के किसी परवर्ती काल में ऐसा दिगंतव्यापी और सुदीर्घ प्रभाव छोड़नेवाला निष्ठावान साहित्य उपलब्ध नहीं होता। रीतिकाल तो भक्तिकाल का विकास नहीं, ह्रास था, कृति अथवा प्रतिकृति नहीं विकृति था। आरती के बुझे हुए प्रदीप का वह धुँआ था, कुम्हलाए हुए पुष्पों की वह जीर्ण माला था, जो किसी भगवान् को नहीं, भगवती को अर्पित किया गया था। रीतिकाल प्रदर्शन का काल था, भक्तिकाल विसर्जन का। भक्तिकाल अपनी गरिमा और महिमा में आधुनिक काल से ही टक्कर ले सकता है। आधुनिक काल जन-जीवन के चरम विकास का काल रहा है और अपने विविध विकास में अत्यधिक क्रान्तिकारी भी। किन्तु यद्यपि गद्य के क्षेत्र में आधुनिक काल की समता प्राचीन कोई भी काल नहीं कर सकता, तथापि पद्य के क्षेत्र में भक्तिकाल आधुनिक काल के लिए भी प्रेरणा का अक्षय श्रोत रहा है। फिर यह बात भी ध्यान में रखने की है कि आधुनिक काल एक प्रवाह है, अजस्र और अनन्त, किन्तु भक्तिकाल क्योंकि वह विगत है, अतएव ठोस जड़ीभूत पुञ्ज है—हिमालय-

(१) हिन्दी-साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी १०९-१११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सा विराट्, चैतन्य सा ऊर्ध्वस्वित। प्रवाह की अपनी महत्ता है, स्थिर चेतन्य की अपनी।

यहाँ हमें भक्तिकाल पर लगाये गये आक्षेपों पर भी विचार कर लेना है। भक्तिकाल की रचनाओं को कुछ लोग रूढ़िग्रस्त, परम्परायुक्त, शास्त्रीय और सामंतवादी कहते हैं। किन्तु ऐसा मानना न केवल आज के माप-दंड से प्राचीन को तौलना है; किन्तु साथ ही साथ अपने दर्शन और तर्क का खोखलापन दिखलाना भी है। यह बात ठीक है कि तुलसी के राम और उनके दर्शन में शास्त्रीय परम्परा की गूँज है, सूर के कृष्ण और उनकी लीलाओं में भोगातिशय है जो ह्रासशील सामंती प्रथा की रुग्ण मनोवृति का परिचायक है। किन्तु याद रखना है कि तुलसी ने समन्वयवादी, मानवतावादी दर्शन देकर तथा समस्त पंडितों को चुनौती देते हुए अवधी भाषा में पौराणिक शैली में धार्मिक ग्रन्थ लिखकर जो क्रांति की, तथा सूर ने भगवान् कृष्ण को ग्रामीण जीवन और पशुचारण के वातावरण में तल्लीन करा कर जन-जीवन को जितना भव्य रूप दिया, वह कम महत्त्व की बात नहीं। कबीर आदि संतों ने तो साक्षात् जन-जीवन को अपने काव्य का लक्ष्य बनाया।

इस प्रकार भक्तिकाल अपने जीवन-दर्शन में, मानवतावादी स्थापनाओं में, भावुकता की गहनता और व्यापकता में, भक्ति और दर्शन की श्रेष्ठता में तथा कला की परिपक्वता में हिन्दी-साहित्य का श्रेष्ठयुग है और उसे स्वर्णयुग कहना उचित है।

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी का ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्तिकाव्य

(संतकाव्य और उनका महत्त्व)

भगवान् को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में कल्पित किया गया है। यह परिकल्पना अत्यधिक प्राचीन भी है। निर्गुण ब्रह्म को नाम, रूप, आकार आदि कोई विशेषण नहीं होता। वह अवतार भी नहीं ग्रहण करता क्योंकि अवतरित हो कर वह नाम, रूप, आकार आदि अनेकानेक सम्बन्धों में सीमित हो जाता है। ऐसा निर्गुण, निराकार, अरूप, अगोचर ब्रह्म मस्तिष्क से ध्यातव्य है, किन्तु हृदय से प्राप्तव्य नहीं। ऐसे ब्रह्म की उपासना हो सकती है, आराधना नहीं। उसका चिन्तन-मनन संभव है, पूजन-अर्चन नहीं। यह ब्रह्म अपने ही अन्तस् में उपलब्ध है, कहीं बाह्य मंदिर अथवा अन्य स्थान में नहीं। अतएव इस निर्गुण ब्रह्म के लिए जो साधना होगी, वह पूर्णतः वैयक्तिक, अन्तर्मुखी और ज्ञानाश्रित होगी। जीवन की दृष्टि से यह साधना निवृत्तिमार्गी ही कहलाएगी। क्योंकि जीवन के सहज रागों और अनुरक्तियों से इसका सम्बन्ध नहीं, उनसे विराग ही आवश्यक है। ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति की योगादि चित्ताश्रित साधनाएँ उपनिषदों में भी वर्णित हैं। कहा जाता है कि ऐसी साधनाएँ उनसे भी प्राचीन हैं—प्राक्वैदिक हैं।

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में इसी निर्गुण ब्रह्मवाद पर आश्रित एक नवीन आन्दोलन चला, जिसे हम संत मत कहते हैं और हिन्दी-साहित्य के इतिहास में ज्ञानाश्रयी निर्गुण काव्यधारा नाम से पुकारते हैं। इस मत के अथवा इस काव्यधारा के सबसे प्रबल प्रवर्तक कबीर हैं।

निर्गुण-भक्ति के लिए जो आन्दोलन कबीर से शुरू हुआ, वह वास्तव में प्रारंभ न था, प्रतिफलन था। बुद्ध, महावीर आदि ने तत्कालीन शास्त्र-विहित रूढ़िग्रस्त सनातन धर्म पर जो आक्रमण किये, तथा बाद में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चौरासी सिद्धों, नवनाथों ने आक्रामक रूप अख्तियार कर उच्च-नीच के भेद-भाव से परे जो एक सामान्य लोक सहज धर्म की खोज की, वही संत साहित्य में विकसित हो कर प्रतिष्ठित हुआ। 'अतः संत साहित्य का आदि इन्हीं सिद्धों को, मध्य नाथ-पंथियों और पूर्ण विकास कबीर से प्रारंभ होनेवाली संत-परम्परा में नानक, दादू, मलूक दास, सुन्दरदास आदि को मानना चाहिए। इस प्रकार संत साहित्य अपने आदि रूप से विकसित हो कर शृंखला-बद्ध और नियमित रूप से हमारे सामने अपने सम्पूर्ण इतिहास को लेकर आता है।' (१)

बौद्ध-धर्म में हीनयान और महायान के बाद तंत्र के प्रभाव से एक तीसरा यान चल पड़ा जिसे तंत्रयान कहते हैं। यही तंत्रयान बाद में वज्रयान भी कहलाया।

बौद्ध-धर्म में वज्रयान या तंत्रयान नाम से जो तीसरा यान चल पड़ा वह वास्तव में बौद्ध-धर्म की विकृति है। शंकर, कुमारिल, उदयन आदि वैदान्तिक और मीमांसक आचार्यों के कारण बौद्ध-धर्म का दर्शन शिथिल पड़ गया। उसके तत्त्ववाद पर से लोगों की आस्था उठ गयी। शंकराचार्य के कारण तो बड़े-बड़े बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप ग्रहण कर लिया। इसके अलावा हर्ष के बाद उत्तर भारत में बौद्ध-धर्म को कोई राजकीय आश्रय नहीं मिला। फलस्वरूप बौद्ध संन्यासियों को कुछ ऐसे उपायों का सहारा लेना पड़ा जिनसे वे लोगों को आकृष्ट करने में सफल हों। अतएव वे तंत्र, मंत्र, जादू, टोना, ध्यान-धारणा आदि से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगे। इस प्रकार बौद्ध-धर्म लोकार्पण के रास्ते तंत्रयान की ओर बढ़ा। जब बंगाल के पालवंशी राजाओं ने बौद्ध-धर्म को आश्रय दिया तो बिहार, बंगाल, नेपाल और तिब्बत में बौद्ध-धर्म का संबध तंत्रवाद से अधिक बढ़ गया। "जिन दिनों हिन्दी-साहित्य का जन्म हो रहा था उन दिनों भी बंगाल और मगध तथा उड़ीसा में

(१) हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा—पृ० ५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बड़े-बड़े बौद्ध बिहार वर्तमान थे जो अपने मारण; मोहन, वशीकरण और उच्चाटन की विद्याओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जनसमुदाय पर अपना प्रभाव फैलाते रहे।" (१) इस प्रकार बौद्ध-धर्म पहले हीनयान में, बाद में महायान में और अन्त में वज्रयान, तंत्रयान अथवा सहजयान में जो बदलता गया, वह वास्तव में बौद्ध-धर्म के लोकमत की ओर बढ़ने के चरण मात्र हैं।

उस समय जब कि धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म लोक धर्म में घुल रहा था, ब्राह्मण धर्म अलग होता जा रहा था। पंडितगण प्राचीन धर्मग्रन्थों पर टीकाएँ लिख रहे थे और धर्मशास्त्रीय वचनों को लोक-जीवन के लिए उपयोगी बना रहे थे और टूटते हुए बौद्ध-धर्म से अनेकानेक जातियों को हिन्दू धर्म में ले रहे थे। इन जातियों के आचार-विचार को पंडितगण शास्त्रीय करार देने को भी तुले हुए थे। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म भी लोक-जीवन की ओर झुक गया था। इस कारण हम कह सकते हैं, "असल में बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण धर्म की पुनः स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थिति में अभूतपूर्व क्रांति उत्पन्न हो गई।" (२)

मुस्लिम आक्रमण से ब्राह्मण धर्म में एक कट्टरता आई और मुसलमानों के बस जाने पर उस कट्टरता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया भी हुई जिसका स्पष्ट प्रभाव तत्कालीन दार्शनिक, धार्मिक और साहित्यिक चेतना पर पड़ा।

"आधुनिक युग आरंभ होने के पहले हिन्दी कविता के प्रधानतः छः अंग थे—डिंगल कवियों की वीर गाथायें, निर्गुणिया संतों की वाणियाँ, कृष्णभक्त या रागानुगा भक्तिमार्ग के साधकों के पद, रामभक्त या वैधी भक्तिमार्ग के उपासकों की कवितायें, सूफी साधना से पुष्ट मुसलमान

---

(१) हिन्दी साहित्य की भूमिका : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ९
(२) ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, २७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवियों के तथा ऐतिहासिक हिन्दू कवियों के रोमांस और रीतिकाव्य। हम इन छहों धाराओं की आलोचना अगर अलग करें तो देखेंगे कि ये छहों धारायें अपभ्रंश कविता का स्वाभाविक विकास हैं।" (१)

अपभ्रंश भाषा से दो प्रकार की जातियों की दो प्रकार की वस्तुएँ विकसित हुईं—"(क) पश्चिमी अपभ्रंश से राजस्तुति, ऐहिकता मूलक शृंगारी काव्य, नीति-विषयक फुटकल रचनाएँ और लोक प्रचलित कथानक और (ख) पूर्वी अपभ्रंश से निर्गुणिया संतों की शास्त्रनिरपेक्ष उग्र विचार धारा, झाड़ फटकार, अक्खड़पना, सहजशून्य की साधना, योग-पद्धति और भक्तिमूलक रचनाएँ। ....यह भी ध्यान में रखने की बात है कि पूर्वी प्रदेशों में भारतीय इतिहास के आदिकाल से रूढ़ियों और परंपराओं के विरुद्ध विद्रोह करने वाले संत होते रहे हैं। वैदिक कर्मकाण्ड के मृदुविरोधी जनक और याज्ञवल्क्य तथा उग्र विरोधी बुद्ध और महावीर आदि आचार्य इन्हीं पूर्वी प्रदेशों में उत्पन्न हुए थे।" (२)

इन सब का निष्कर्ष यह कि उत्तर भारत के पूर्व और पश्चिम प्रदेशों में अनेकानेक साधनाओं का वेग से मिलन हो रहा था। यह मिलन कुछ ऐसा महान्, यह आन्दोलन कुछ इतना विराट् था कि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"हम अपने को ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनों से कहीं अधिक विशाल है जिन्हें भारतवर्ष ने कभी देखा है, यहाँ तक कि वह बौद्ध-धर्म के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्त्तमान है।" (३)

उस समय दक्षिण भारत में भक्तिपूर्ण उपासना चल रही थी। ऐसे भक्तों में आलवार भक्तों का नाम आदर से लिया जाता है। इन्हीं आलवार भक्तों की परंपरा में सुविख्यात वैष्णव आचार्य रामानुज का

---

(१) हिन्दी साहित्य की भूमिका : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ २८
(२) ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, २९
(३) ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने दक्षिण की जाति-प्रथा की कट्टरता को दूर करने का प्रथम प्रयास किया। उन्होंने विष्णु की भक्ति का सहारा लेकर नीच जातियों को ऊपर उठाया। दक्षिण का यह वैष्णव मतवाद समस्त भक्ति आन्दोलन का मूल प्रेरक है। यह भक्तिवाद शंकराचार्य के दार्शनिक मत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया में जोर पकड़ रहा था। शंकराचार्य की प्रतिक्रिया में चार सम्प्रदाय उठे—(१) रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय
(२) मध्वाचार्य का ब्राह्म सम्प्रदाय
(३) विष्णुस्वामी का रुद्र सम्प्रदाय
(४) निम्बार्काचार्य का सनकादि सम्प्रदाय

इन चारों में दार्शनिक भेद है, पर सभी शंकर का विरोध एक स्वर से करते हैं और सभी यह मानते हैं कि भगवान् अवतार लेते हैं और उनकी भक्ति करनी चाहिए। इन सम्प्रदायों का सीधा फैलाव ही संत-काव्यधारा और भक्ति काव्यधारा से है। श्रीरामानुजाचार्य के शिष्यों में से ही रामानन्द हुए, जिन्होंने एक नयी धारा चलायी।

निष्कर्ष यह कि जिसे हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में संत-काव्य-धारा कहते हैं उसका मूल स्रोत यद्यपि अत्यधिक प्राचीन है किन्तु तत्कालीन प्रवृत्तियों ने उसे बल दिया। वे प्रवृतियाँ हैं—

(१) बौद्ध धर्म की लोकाभिमुखी प्रवृति तंत्रयान, वज्रयान आदि;
(२) ब्राह्मण धर्म का लोक-जीवन की ओर अभियान;
(३) मुस्लिम आक्रमण और राज्य-संस्थापन, जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दू-मुस्लिम एकता के भाव आये।
(४) अपभ्रंश भाषा का प्रसार;
(५) पूर्वीय प्रांतों की स्वच्छंद-चेता संतों की परम्परा;
(६) दक्षिण भारत के वैष्णव भक्तों की परंपरा;
(७) रामानुजाचार्य आदि आचार्यों का दार्शनिक आन्दोलन
और (८) श्री रामानन्द का प्रवर्त्तन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संतों की जिस काव्यधारा को हम जन-आन्दोलन के एक रूप में पाते हैं, उस जन-आन्दोलन के सब से प्रबल और प्रथम प्रवर्त्तक स्वामी रामानन्द थे। स्वामी रामानन्द श्रीरामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में ही हुए थे। कहा जाता है कि अपने गुरु राघवानन्द से किसी विषय पर मतभेद हो जाने के कारण उन्होंने मठ छोड़ दिया और दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर प्रस्थान किया। यह प्रस्थान उत्तर भारत के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इस प्रस्थान के बाद से ही उत्तर भारत के जन-आन्दोलन का प्रारंभ होता है। यह प्रस्थान रामानन्द का प्रस्थान था; समस्त भारत का प्रस्थान था, समग्र मध्ययुग का प्रस्थान था,—रूढ़ियों से स्वाधीन चिंता की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत से अमृत की ओर।

श्री रामानन्द ने तत्कालीन जन-चेतना को नई रोशनी दी। जाति-पाँति को मिटाकर भक्ति का सामान्य पथ दिया। रामानन्द की इस उदारता ने उन्हें लोकव्यापी प्रतिष्ठा दी। उनके बारह शिष्यों में से कई नीच जाति के थे—रैदास चमार था, कबीर जुलाहा था, धन्ना जाट था, सेना नाई था।

इस प्रकार संतों का एक नया दल उत्पन्न हुआ, जिसकी मूल चेतना (१) धार्मिक और (२) सामाजिक दोनों क्षेत्रों पर एक समान प्रभाव डालने लगी।

इन संतों में कई प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। इन में से नामदेव, कबीर दास, रैदास, दादूदयाल, नानक साहब, सुन्दर दास आदि प्रसिद्ध हैं। कई भक्तों के अलग-अलग संप्रदाय चले हैं—जैसे कबीर पंथी, खाकी, मलूक दासी, रैदासी, सेनापंथी, सिक्ख सम्प्रदाय आदि।

इन संतों में कबीरदास सबसे अधिक प्रभावशाली हुए। "कबीर एक ही साथ तीन बड़ी-बड़ी धाराओं को आत्मसात् कर सके थे। लेकिन इससे उनके रामानन्द के शिष्य होने में बाधा नहीं पड़ी। ये तीन धारायें इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार हैं—(१) उत्तर-पूर्व के नाथ-पंथ और सहजयान का मिश्रित रूप (२) पश्चिम का सूफी मतवाद और (३) दक्षिण का वेदान्त भावित वैष्णव धर्म। कबीर के दोहे, पद, यहाँ तक कि उलट-वासियाँ भी नाथ-पंथ और सहजयान के साधकों के ढंग पर हैं, कहीं-कहीं तो हू-बहू वही बात रख दी गई है। दूसरी धारा का क्षीण प्रभाव उनकी प्रेममूलक रूपक रचनाओं पर है, पर अंतिम धारा ही वास्तव में कबीर को सदा परिचालित करती रही।" "कबीरदास में युग प्रवर्त्तक का विश्वास था और लोकनायक की हमदर्दी" (१) इस हेतु कबीर ने समाज पर तीव्र प्रहार किये, लेकिन साथ ही साथ निर्गुण भक्ति की ऐसी कल्पना दी जो आज भी नवीन है। कबीर के मरने पर सुरत गोपाल ने काशी में और धरमदास ने मध्यप्रांत में कबीर का संप्रदाय स्थापित किया।

रैदास कबीर से बड़े थे। अपनी भक्ति में वे अत्यंत निरीह थे। कहा जाता है प्रसिद्ध भक्त मीराबाई ने रैदास से ही दीक्षा ली थी।

कबीर के पुत्र कमाल थे और उनके शिष्य दादू हुए। दादू बड़े मस्त भक्त थे। उनकी कवित्व शक्ति भी अपूर्व थी। दादू के अनेक शिष्य हो गये हैं—सुन्दरदास, रज्जब, जयगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास आदि। इनमें से सुन्दरदास और रज्जब, अच्छे कवि हो गये हैं। सुन्दरदास शास्त्र सिद्ध थे किन्तु रज्जब भावुक और चिन्तनशील कवि।

दादू की शिष्य-परंपरा में जगजीवनदास और मलूकदास भी प्रसिद्ध हैं। इनके सिवाय तुलसी साहब, भीखा साहब, पलटू दास, दरिया साहब आदि अनेकानेक संत हुए जिन्होंने संत काव्य को शक्ति और प्रकाश दिया।

इन संतों के अलावा एकनाथ, नामदेव, गुरु नानक तथा समर्थ रामदास के पृथक व्यक्तित्व स्मरण करना भी आवश्यक है। संत

(१) हिन्दी-साहित्य की भूमिका : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ ४८-४९ तथा ८६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामदेव, एकनाथ और समर्थ रामदास महाराष्ट्र के प्राण समझे गये हैं। उन्होंने समस्त महाराष्ट्र में जीवन और जागर्ति दी है। इन्हीं के साथ-साथ पश्चिम भारत में गुरु नानक ने भी जीवन को एक नयी दिशा दी।

मध्ययुग के इन संत-साधकों में साधना के, भाषा के तथा आचार और जीवन के अनेक विभेद होने पर भी कुछ बातें समान भाव से पाई जाती हैं। सभी संत यह मानते हैं कि भक्त का भगवान् के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध है। ईश्वर सत्ता नहीं, व्यक्ति है; जो कृपा करता है, प्रेम करता है। वह निर्गुण है, पर कबीर भी कहता है—हरि जननी, मैं बालक तोरा। 'अर्थात् ईश्वर के साथ उसका संबन्ध है। अतः ज्ञानी हो कर भी निर्गुणिया हो कर कबीर आदि सारे संत प्रेम में विश्वास करते हैं। ये सारे संत भक्त और भगवान् को समान बतलाते हैं, और सभी प्रेम की महत्ता स्वीकार करते हैं। सारे संत अपनी दीनता पर जोर देते हैं, आत्म-समर्पण में विश्वास करते हैं और संसार के आडम्बर को मिथ्या समझते हैं।

संतों की यह निर्गुण काव्यधारा ज्ञानाश्रयी और शुष्क कहलाती है; परन्तु वास्तव में न तो वह पूर्णतः निर्गुण है, न पूर्णतः ज्ञानाश्रित और न पूर्णतः शुष्क ही। कबीर का राम निराकार और अनवतारी तो है, पर निर्विशेष नहीं। कबीर भी भक्ति में रोते हैं, बिलखते हैं; पिया से मिलने का अभिसार करते हैं। अतएव रागात्मक तत्त्व उनमें भी है। कबीर को पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी हेतु नृसिंहावतार की प्रतिमूर्त्ति माना है। 'कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिंदु पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है, और दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ से एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ से एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना, उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे।' (१)

---

(१) हिन्दी-साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ. १२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संतों की समदृष्टि उन्हें सार्वभौम बना देती है। इस समदृष्टि में ही संतों की वाणी की मूल चेतना है। इसी के बल पर संत सच्चे समाज सुधारक, और पक्के मानवतावादी कवि कहे गये। संतों ने प्रथमबार एक ऐसा जन-आन्दोलन उपस्थित किया और लोक-चेतना को इस प्रकार मथित किया कि शताब्दियों की संकुचित चित्तवृत्ति परिमार्जित होने को एकबार आंदोलित हो उठी। यह सामाजिक क्रांति कम महत्त्वपूर्ण नहीं। इसी का फल यह है कि आज भी गाँव की जनता इन संतों के समता, सरलता, संतोष, गुरु-महिमा और सहज भक्ति के पद प्रेम से याद करती है। कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक अनुभूति में नहीं, उचित विवेचना में है। संतों ने जीवन की वास्तविक विवेचना उपस्थित की और लोक-जीवन को यथार्थ रूप में चित्रित किया। उनकी अनुभूति सच्ची थी, उनकी कल्पना सरल थी, उनकी मनोवृत्ति स्पष्ट और कुण्ठाहीन थी। वे जीवन के अत्यधिक निकट हो कर भी दर्शन और अध्यात्म के समीप थे। इस प्रकार संतों ने लौकिक और पारलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक जगत् के बीच सेतु का काम किया।

संतों के काव्य में रहस्यवाद की सुन्दर अभिव्यक्ति है। कबीर के आध्यात्मिक भावों में निराकार ईश्वर की उपासना के साथ-साथ प्रेम और भक्ति की उत्कट तल्लीनता भी है। संत कवियों ने इसी निराकार के अविगत रूप के प्रति अपने प्रेम की धारा बहाई है। जिसमें रहस्यवाद का मधुर रूप निहित है।

संत काव्य भावों की, अनुभूति की, सहज अनायास अभिव्यक्ति है। उसमें कृत्रिमता, बनाव-सिंगार का लेश भी नहीं। इसीलिए उसके प्रहार वेधते हैं, वेदना सालती है और भक्ति अभिभूत कर लेती है।

संत-काव्य हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अपना अलग महत्त्व रखता है। जगत् के समस्त आडम्बरों को ध्वस्त करके सहज भगवत्प्रेम का पथ प्रशस्त करने वाला, माया को ललकार कर वास्तविक आनन्द का मार्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिखाने वाला, बँधी-बँधाई भाषा को 'कूप जल' कह कर त्यागने और जन-भाषा के 'बहते नीर' को अपनाने वाला संतमत अपनी अलौकिक साहसिकता, अदम्य स्फूर्ति, अगाध मानव प्रेम और अखंड आत्मविश्वास के लिए हिन्दी-साहित्य में प्रकाश-पुंज की भाँति सदा आदरणीय रहेगा।

—:०:—

हिन्दी की प्रेमाख्यानक काव्यधारा

(सूफी-कवि परम्परा और उसकी महत्ता)

गोस्वामी तुलसीदास के बहुत पहले से ही लोक-भाषा में प्रेम कथानकों का ऐसा साहित्य लिखा जाने लगा था जिसका आधार लोक-प्रचलित कथानक थे। इस साहित्य की एक लम्बी परम्परा है। ऐसी लोक-कथाओं का सबसे बड़ा संग्रह पैशाची भाषा में लिखी गई गुणाढ्य कवि की 'बृहत् कथा' थी जो मूल रूप में नष्ट हो गई है पर रूपांतरित होकर 'कथा सरित्सागर' नाम से अब भी प्रचलित है। प्राकृत और अपभ्रंश में भी ऐसी कथाएँ लिखी गयीं—जैसे कौतूहल कवि का प्राकृत भाषा में लिखा लीलावती नामक प्रेम-कथानक। नायिकाओं के नाम पर लिखे गये प्रेम-काव्य जनप्रिय भी बहुत थे। उन्हीं की परम्परा में कनकावती, मुग्धावती, मृगावती, सपनावती, प्रेमावती, खंडरावती, मधुमालती, कामकंदला, रूपमंजरी, विद्युद्लेखा, पद्मावती आदि हैं।

ये काव्य अक्सर ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम के साथ जुड़े होते थे और कभी इनमें के चरित बिल्कुल कल्पित हुआ करते थे। ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ कल्पित या अर्द्ध-कल्पित प्रेम-कथाओं में ऐतिहासिक सहारा भर होता थी, नाम भर की होती थी। इन प्रेम-कथाओं के द्वारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या तो आध्यात्मिक सिद्धांतों का प्रचार करना उद्देश्य था या फिर मनोरंजन। अतएव इन प्रेम-कथानकों को हम दो विषयों में बाँट सकते हैं—

(१) आध्यात्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए लिखे गये काव्य।

(२) विशुद्ध लौकिक काव्य।

प्रथम कोटि के काव्यों के भी दो प्रकार होंगे—

(क) सूफी कवियों के द्वारा लिखे गये काव्य।

(ख) अन्य भक्त कवियों के द्वारा लिखे गये काव्य।

दूसरी कोटि के काव्यों के भी दो भेद कर सकते हैं—

(क) काल्पनिक।

(ख) ऐतिहासिक अथवा अर्द्ध-ऐतिहासिक।

इनमें से सूफी कवियों के द्वारा लिखे गये काव्य ही महत्त्व और संख्या की दृष्टि से अधिक हैं। इनमें अलाउद्दीन के समकालीन मुल्ला-दऊद की चन्द्रावत, शेरशाह के पिता हुसेन शाह के आश्रित कुतबन की मृगावत, मंझन की मधुमालती, जायसी की पद्मावत, उसमान की चित्रा-वली, जान कवि की कनकावती, कासिम शाह की हंस जवाहर, नूर मुहम्मद की इन्द्रावति, शेख निसार की 'यूसुफ जुलेखा', ख्वाजा अह-मद की 'नूरजहाँ', (१६०५) शेख रहीम की रचना (१६१७) भाषा प्रेम रस और कवि 'नसीर की रचना (१६१७) प्रेम दर्पण महत्त्वपूर्ण हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि सूफियों की कविता १४ वीं सदी से आधुनिक काल तक चली आई है। इन समस्त कवियों में जायसी प्रमुख हैं।

अन्य भक्तों और संतों की प्रेम-कथात्मक रचनाओं में अष्ट छाप के प्रसिद्ध कवि नन्द दास की 'रूप-मंजरी', संत कवि बाबा धरणी-दास का 'प्रेम प्रगास', संत दुखहरन की 'पुहुपावती' तथा वैष्णव कवियों की रचनाएँ हैं जिनमें नल-दमयन्ती, कृष्ण-रुक्मिणी, उषा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनिरुद्ध आदि की पौराणिक कथाओं का आश्रय लिया गया है।

लौकिक प्रेम-कथाओं में राजस्थानी, गुजराती कहानियाँ आदि आती हैं, जैसे—ढोला मारू की कहानी, सारंगा सदैव्रछरा दूहा, सोरठरा दूहा, मदन सतक, पंच सहेली आदि। राजस्थान में सत्रहवीं शताब्दी में 'बात' नामधारी अनेक प्रेम-कथाएँ लिखी गयीं। दोहा-चौपाई में प्रेम-कथाएँ अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी तक लिखी जाती रहीं। सुमति-हंस का 'विनोद-रस', सूरदास का 'नल दमन', निगम कायस्थ की 'मधु-मालती', हरसेवक मिश्र की 'कामरूप कथा' और कुशल लाभ की 'माधवानल-कामकंदला-चरित्र' आदि ऐसी ही प्रेम-कथाएँ हैं।

इन समस्त रचनाओं में सूफी कवियों की रचनाएँ ही अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं—यह ऊपर कह आये हैं। यह भी कह आये हैं कि सूफियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं।

सूफी सम्प्रदाय भारत में मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ आये। संभवतः ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ही इस सम्प्रदाय के पहले संस्थापक थे, जो १२ वीं सदी में भारत आये। उनके बाद सुहरावर्दी सम्प्रदाय, कादरी सम्प्रदाय और नक्शबंदी सम्प्रदाय का आगमन और संस्थापन हुआ।

ये सम्प्रदाय अपने मूल सिद्धान्त में एक थे। धार्मिक और सामाजिक पक्ष में ये उदार, सहिष्णु, एकेश्वरवादी और प्रेमी भक्त थे। इनकी शिष्य-परम्परा में ही सूफी कविगण हुए।

ये सूफी सन्त इस्लाम मजहब की कट्टरता को दूर करने में बहुत दूर तक सफल हुए। इस्लाम में ही कुछ ऐसी बातें थीं क जिनकी प्रतिक्रिया में सूफी मत फारस और अरब में चला। इस्लाम ईश्वर को सर्वोपरि तानाशाह के रूप में देखता है, उसके न्याय की आँखें तेज-तर्रार हैं, हृदय तो उसे है नहीं। इस्लाम में व्यक्ति की कोई हस्ती नहीं, और कोई भी व्यक्ति ईश्वरत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता, प्रेम से ईश्वर को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं पा सकता। इस कारण कहा जाता है कि अद्वैतवादी और बौद्ध भारतीय दर्शन का तथा नव-अफलातूनी दर्शन का प्रभाव जब अरब, फारस और मेसोपोटामिया के क्षेत्रों में पड़ा तो अनेक ऐसे सन्त वहाँ हो गये, जो प्रेम के बल पर, अखण्ड व्यक्तिगत साधना और भावना के बल पर ईश्वर को जीतने के हिमायती हुए। यह इस्लाम के विरुद्ध पड़ता था। इसलिए अनेक सूफी सन्तों को लोगों ने कष्ट दिया, जला डाला, मार डाला। पर सूफी सन्त अपने आचरण की सात्विकता और पवित्रता से जन-जन के आदर के पात्र बन गये थे। उनके निष्ठावान, सरल, निश्चल, प्रेम-पूर्ण व्यक्तित्व का प्रभाव अमिट पड़ रहा था। इस प्रकार सूफी मत फैल गया और उसने इस्लाम संस्कृति को जितनी दूर तक पहुँचाया, उतनी दूर तक मुस्लिम शासकों की तलवार भी नहीं पहुँचा सकी। यह प्रेम की विजय थी, हृदय-पक्ष की विजय थी।

इसीलिए सूफी कवियों द्वारा लिखे गये समस्त कथानकों में साधना की, हृदय की, आत्मा की विजय और उस विजय का उल्लास वर्णित है। इसीलिए हिन्दी-साहित्य की प्रेमाख्यानक काव्य-धारा विशेष कर मुसलमानों के (सूफी कवियों के) कोमल हृदय की अभिव्यक्ति है। हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के प्रेमपूर्ण सम्मिलन का ही वह अभिनन्दन है।

इन सूफी कवियों ने हिन्दू-धर्म के प्रधान आदर्शों को, वर्ण-व्यवस्था, देवी-देवता, जंतर-मंतर, हठयोग, रसायन, अद्वैतवाद आदि को स्वीकार किया और उन्हें मानते हुए सूफी-सिद्धान्तों का निरूपण किया। इस एकीकरण से प्रेम-काव्यों में सजीवता और लोक-प्रियता आ गयी। यही कारण है कि यह परम्परा उन्नीसवीं-बीसवीं सदी तक चलती रही।

सारी प्रेम-कथाएँ हिन्दू पात्रों की कथाएँ हैं, हिन्दू वातावरण में खुलती और खत्म होती हैं। यद्यपि निष्कर्ष सूफी मत का प्रतिपादन है, किन्तु हिन्दू धर्म को अश्रद्धा नहीं, श्रद्धा ही दिया गया है। इस कारण प्रेम-काव्यों ने सूफी मत का प्रचार खूब सफलता से किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेम-काव्यों ने हिन्दी के आख्यायिका-साहित्य को यथेष्ट समृद्ध किया है। उन्होंने रहस्यवाद का सुन्दर ललित और कथात्मक रूप सामने रखा। कबीर का रहस्यवाद जो शुष्क और जायसी का मधुर दीखता है, वह इसी कारण कि कबीर ने कथा का आश्रय नहीं लिया। कबीर ने परोक्ष सत्ता की एकता की झलकमात्र दिखलाई, अल्लाह और ईश्वर को, राम और रहीम को एक कह कर। जायसी ने वास्तविक जगत् में उस परोक्ष सत्ता की एकता दिखलाई। प्रेम-काव्यों ने 'प्रेम की उत्कट पीर' की जैसी तीव्र और व्यापक अभिव्यक्ति दी है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। फलस्वरूप उसका प्रभाव कबीर, मीरा, भारतेन्दु आदि में तो पड़ा ही, छायावाद पर भी पड़ा। प्रेम-काव्य की महत्ता इस बात के लिए भी है कि चरित-काव्य की परम्परा को इसने आगे बढ़ाया। अवधी भाषा में चरित-काव्यों में 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत' ही सर्व-श्रेष्ठ रत्न हैं। इससे मलिक मुहम्मद जायसी का स्थान कितना उच्च है यह हम अनुमान कर सकते हैं। इससे यह भी कल्पना हम कर सकते हैं कि प्रेमाख्यानक काव्यधारा का हिन्दी-साहित्य में कितना महत्त्व है।

—:o:—

हिन्दी का सगुणमार्गी रामभक्ति-साहित्य

(तुलसीदास और उनकी महत्ता)

चारित्रिक निष्ठा और जीवंत पुरुषार्थ को, अमित त्याग और अखंड सेवा-भावना को भारतीयों ने राम में कल्पित किया। राम साकार पौरुष हैं। किन्तु साथ ही साथ राम का जीवन यद्यपि ऊपर-ऊपर जीवन के साथ महान् प्रयोग है, प्रयत्नों की अटूट परम्परा है, तथापि अपने मूल में वैसा ही करुण और आर्द्र भी है। शक्ति और शोक के इस पुंजीभूत विराट् रूप को ही हम राम कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतएव राम पर आधारित काव्यों की रचना पर्याप्त हुई। हमारे आदि कवि का शोक भी राम-काव्य में ही श्लोक बना।

रामकथा के मूल-स्रोत के बारे में अनेक विद्वानों के अनेक मत हैं। लासेन रामकथा को आर्यों के दक्षिण-अभियान का रूपक मानता है। वेवर इसे स्वीकार करता हुआ रामकथा पर 'दशरथ जातक' और होमर के काव्य का प्रभाव भी मानता है। याकोवी रामकथा को दो भागों में—(१) अयोध्या सम्बन्धी कथा और (२) रावण तथा सीता सम्बन्धी कथा—बाँट कर प्रथम भाग को ऐतिहासिक और दूसरे को वैदिक कृषि-देवता से सम्बन्धित कल्पित रूपक-कथा मानते हैं। इस प्रकार इस कथा के उद्गम पर नाना मत हैं। पर इतना तो स्पष्ट है कि रामकथा भारत में ही नहीं, तिब्बत, स्याम, हिन्दचीन, बर्मा, जावा आदि में भी कुछ न कुछ रूप में प्रचलित मिलती है। भारत में तो अनेक संस्कृत पुराणों और नाटकों और काव्यों में राम का चरित वर्णित हुआ है—हरिवंश, विष्णु, वायु, भागवत, ब्राह्मण, गरुड़, स्कंद आदि पुराण पूर्व-तापनी (उपनिषद्) आदि उपनिषद, रघुवंश, उत्तर रामचरित, हनुमन नाटक, प्रसन्न राघव आदि नाटक, अध्यात्म रामायण, अद्भुत रामायण, आनन्द रामायण, भट्टिकाव्य, जानकी-हरण, रामचरित आदि काव्य इसके प्रमाण हैं।

हिन्दी-साहित्य में रामानन्द ने ही सर्वप्रथम राम-भक्ति का प्रचार किया। उनकी रामभक्ति दो रूपों में बढ़ी—

(१) निर्गुण मार्ग के रूप में कबीर, दादू आदि सन्तों की वाणियों में।

(२) सगुण मार्ग के रूप में तुलसी आदि भक्तों की कथाओं में।

इन दोनों प्रकार के सन्तों और भक्तों में समानता दो ही क्षेत्रों में है—(१) राम नाम को स्वीकार कर लेने में—यद्यपि सन्तों के राम अवतारी नहीं, निर्गुण, निराकार ब्रह्म हैं और भक्तों के राम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सगुण भी हैं, निर्गुण भी।
और (२) अनन्य भक्ति को मानने में।

राम-भक्ति के श्रेष्ठ कवि तुलसीदास हैं। वे इस साहित्य के सर्वमान्य सम्राट् हैं। तुलसीदास की महत्ता अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से स्वीकार की। नाभादास ने उन्हें 'कलिकाल का बाल्मीकि' कहा, स्मिथ ने उन्हें 'मुगल-काल का सबसे महान् व्यक्ति' माना, ग्रियर्सन ने 'उन्हें बुद्धदेव के बाद सबसे बड़ा लोकनायक' बतलाया। तात्पर्य यह कि तुलसीदास असाधारण शक्तिशाली कवि, लोकनायक और महात्मा थे। उन्होंने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव-जीवन की जैसी व्यापक और सम्पूर्ण समीक्षा की वैसी हिन्दी-साहित्य में दूसरी नहीं। जीवन की समीक्षा के साथ ही साथ उन्होंने कुछ ऐसे आदर्शों की भी स्थापना की जो भारत के लिए चिरन्तन तो हैं ही, विश्वजनीन आधारों पर टिके रहने के कारण सार्वभौम भी हो सकते हैं। इन आदर्शों की नींव में भक्ति है, और यह भक्ति शील पर टिकी है। मतलब यह कि तुलसी दास ने शील को चरित्रगत निष्ठा, और हृदयगत परम श्रद्धाभाव को ही प्रधान माना। उसकी दृढ़ भूमि पर ही भक्ति टिकी है। शील भक्ति का आन्तरिक, हृदयगत रूप है, भक्ति शील का प्रकट, बाह्य रूप। शील और भक्ति का विराट् समाजव्यापी रूप ही राम-भक्ति है और उस राम-भक्ति का अक्षय कोष तुलसीदास का 'रामचरित मानस' है।

तत्कालीन रामकाव्य और विशेष कर तुलसी-साहित्य मुगलकालीन धार्मिक जटिलताओं और विषमताओं की प्रतिक्रिया में हिन्दू जाति का शंखनाद है। तुलसी के समस्त साहित्य से एक धीर, आस्थावान और ओजस्वी स्वर सुनाई पड़ता है, जो कुछ करुण तो है पर कातर नहीं। यह स्वर तत्कालीन हिन्दू जाति का स्वर है, सच्ची मानवता का भी स्वर है। तुलसी का व्यक्तित्व हिन्दू जाति के 'सुवर्ण' का वह रूप है जो उस समय की धार्मिक-सामाजिक-राजनैतिक चेतना की अग्नि में तपाया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाकर दमक उठा है। 'अत्यन्त विनम्र भाव, सच्ची अनुभूति के साथ अपने आराध्य पर अटूट विश्वास उनके व्यक्तित्व के प्रधान तत्त्व हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य में यह तथ्य भरा पड़ा है। आराध्य की ऐसी एकनिष्ठा भक्ति, ऐसा अनन्य विश्वास और इतनी अखंड आस्था संसार के इतिहास में दुर्लभ है। निरन्तर विषपान करने से जो व्यक्ति नीलकंठ हो गया था, उसके मुँह से आशा और विश्वास की यह अद्भुत वाणी निकली है।' (१)

तुलसी की अभूतपूर्व सफलता का कारण उनकी समन्वय बुद्धि है। इस महान् समन्वय का आधार उन्होंने राम को चुना। राम के चरित में अगुण और सगुण, आत्म पक्ष और लोक पक्ष, शील और शक्ति का अपूर्व समन्वय था भी। 'भारत का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय का अपार धैर्य लेकर आया हो।' तुलसी ने लोक और शास्त्र, वैराग्य और गार्हस्थ्य, भक्ति और ज्ञान, भाषा और संस्कृत, निर्गुण और सगुण, पुराण और काव्य, भावावेग और अनासक्त चिंतन, ब्राह्मण और चांडाल, पंडित और अपंडित का समन्वय ही नहीं किया, तत्कालीन सभी प्रकार की काव्य-पद्धतियों का भी अद्भुत समन्वय किया। तुलसी जैसे सूक्ष्मदर्शी और सारग्राही थे, वैसे ही भक्त भी; जैसे समाज-सुधारक, लोकनायक थे; वैसे कवि, और भविष्य-स्रष्टा भी। इस कारण तुलसी की संतुलित प्रतिभा ने रामकाव्य परम्परा को जो महान् साहित्य दिया वह दुनिया के इतिहास में अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानता।

रामकाव्य-परम्परा में तुलसी के आगे के सारे प्रयत्न फीके हैं। कृष्णदास पयहारी, स्वामी अग्रदास, नाभादास, प्रियादास, केशवदास, उदय राम, प्राणचंद चौहान, लालदास और आधुनिक युग के साकेत के रचयिता पं० मैथिलीशरण गुप्त तथा 'कोशलकिशोर' के रचयिता बलदेव प्रसाद मिश्र रामकाव्य के कवियों में प्रमुख हैं।

---

(१) हिन्दी-साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी—२२५ पृष्ठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'राम-भक्ति का साहित्य सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य है (वह वैधी भक्ति के असपास सदा बना रहा है)।' (१) 'वैष्णव धर्म का रामकाव्य कृष्णकाव्य से श्रेष्ठ रहा क्योंकि रामकाव्य में किसी प्रकार की कलुषता नहीं आने पाई। ......तुलसीदास ने राम-साहित्य को ऐसा व्यापक रूप दिया कि वह सच्चे वैष्णव साहित्य का प्रतिनिधि होकर धर्म और इतिहास में अमर हो गया।' (२)

रामकाव्य की महत्ता राम के चरित्र की, जीवन की महत्ता है। राम-काव्य ने अनेक महाकाव्य दिये, जिनमें भारतीय संस्कृति, धर्म और साहित्य की चरम उपलब्धियाँ हैं। राम-काव्य ने हिन्दू जीवन को सुरक्षित रखा है, उसकी व्यवस्थाओं, मर्यादाओं और आदर्शों की रक्षा की है।

—:o:—

हिन्दी का सगुण मार्गी कृष्णभक्ति-साहित्य

(सूरदास और उनकी महत्ता)

जीवन के आह्लाद और उल्लास को, उसके रंजक और रोमांटिक पक्ष को, कवियों ने कृष्ण में कल्पित किया। कृष्ण 'सुन्दरं' की प्रतिमूर्त्ति हैं, राम 'शिवं' की; सत्यं तो दोनों की आधारभूमि है ही। यह बात नहीं कि कृष्ण की कल्पना में भगवान् का लोक-रक्षक, लोक-पालक रूप नहीं है, अथवा ब्रह्म का निर्गुण-पक्ष उपेक्षित है। वह भी है, किन्तु प्रधानता उनके लोक-रंजक रूप की है। यही कारण है कि लोक-व्यापी महत्ता कृष्ण को मिली।

---

(१) हिन्दी-साहित्य : हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ २४७

(२) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : रामकुमार वर्मा पृष्ठ ४८९ और ४९०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कृष्ण-पूजा संभवतः अति प्राचीन है। वैदिक ऋषियों में से एक कृष्ण थे जिन्होंने ऋग्वेद, अष्टम-मंडल की रचना की थी। छांदोग्योपनिषद में कृष्ण देवकी के पुत्र बतलाए गए हैं और घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य हैं। सात्वत वंश के एक महापुरुष के रूप में वासुदेव ईसा के छः सौ वर्ष पूर्व हो गये हैं जिन्होंने ईश्वर की एकता का प्रचार किया था। बाद में ये वासुदेव ब्रह्म रूप में पूजित हुए और कृष्ण तथा वासुदेव एक माने जाने लगे। कृष्ण और विष्णु को भी एक कहा गया। महाभारत में कृष्ण विष्णु के ही अवतार माने गये हैं। भगवद्गीता में तो श्रीकृष्ण विष्णु ही नहीं परब्रह्म के पद पर अधिष्ठित हुए।

इस विकास के साथ यह भी ध्यान देने की बात है कि कृष्ण के जीवन की भावना स्पष्ट रूप में गोप रूप है, जिसका सम्बन्ध गौओं से है। गाएँ प्रकृति की निर्दोष, सरल, करुण प्रतिमाएँ हैं। श्रीकृष्ण उनके पोषक हैं। इसलिए श्रीकृष्ण को हम 'वनदेव' की भावना की प्रतिमूर्त्ति मान सकते हैं। श्रीकृष्ण के भाई बलराम भी 'ऋतुदेव' माने गये हैं—उनका आयुध हल है। अतः कृष्ण-बलराम प्रकृति की सृजन-शक्ति के प्रतिनिधि हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि कृष्ण आभीर (गोप) जाति के आराध्य थे और बाल-पूजा भी उनकी ही देन थी। अतः हम कह सकते हैं कि आभीरों की 'वनपूजा की भावना' अथवा प्रकृति-पूजा और बाल-पूजा की भावना ही विकसित होती हुई कृष्ण-सम्बन्धी वैदिक, पौराणिक सिद्धान्तों, विष्णु-भावना, महाभारत आदि से मिलती गयी और इस प्रकार श्रीकृष्ण की एक महिमामयी, विराट् कल्पना संभव हो सकी।

मध्यकाल में रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर रामभक्ति का प्रचार किया, तो निम्बार्क, मध्व और विष्णु स्वामी के आदर्शों को सामने रखकर वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। कृष्ण-भक्ति की यह परंपरा प्राचीन थी—भागवत पुराण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और जयदेव का गीतगोविन्द, चंडीदास और विद्यापति इसके प्रमाण हैं। इनसे इतना तो सिद्ध होता है कि लीलागान की परंपरा प्राचीन थी। वल्लभाचार्य ने इसी लीलागान पर बल देकर श्रीकृष्ण-कथा में नयी शक्ति भर दी।

वल्लभाचार्य ने दार्शनिक क्षेत्र में शुद्धाद्वैत की स्थापना की और भक्ति के क्षेत्र में पुष्टि-मार्ग की। उन्होंने यह सिद्धांत स्पष्ट किया कि ब्रह्म शुद्ध है, वह आविर्भूत होता है तो उसे ही सृष्टि कहते हैं। यह सृष्टि और वह ब्रह्म— दोनों में माया का स्थान नहीं। दोनों एक हैं, पर ब्रह्म के आविर्भाव को हम सृष्टि कहते हैं और तिरोभाव को ब्रह्म। ब्रह्म सत् चित् और आनन्द है। जीव सत् और चित् तो है पर ब्रह्म की कृपा से ही (पुष्टि से ही) वह आनन्द रूप होता है। इसलिए ब्रह्म के अनुग्रह की, पुष्टि की आवश्यकता है, जिसके लिए भक्ति ही एकमात्र उपाय है। वल्लभाचार्य के इस पुष्टि-मार्ग में अनेक वैष्णव दीक्षित हुए जिन्होंने कृष्ण-भक्ति पर उत्कृष्ट रचनाएँ कीं। इनमें अष्टछाप बहुत प्रसिद्ध हैं। अष्टछाप के आठ भक्त कवियों में सूरदास श्रेष्ठ हैं।

राम-काव्य परंपरा में जैसी प्रसिद्धि तुलसीदास की है, कृष्ण-काव्य-परंपरा में वैसी ही कीर्त्ति सूरदास को मिली। सूरदास वल्लभाचार्य के और ऊधो के अवतार माने जाते हैं। कहा जाता है सूरदास का यश सुनकर बादशाह अकबर भी उनसे मिले थे।

सूरदास ने कृष्ण की लीलाओं का जैसा मनोहारी, तन्मयकारी वर्णन किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं का चत्रण जिस तत्परता, सरसता और सूक्ष्मता से किया है, संभवतः वैसा और किसी भी साहित्य में मिलना मुश्किल है। बालकों के असंख्य रूप-व्यापारों, चेष्टाओं का 'सूर-सागर' वास्तव में सागर है। माता यशोदा का आत्म-समर्पण और उसको उपलक्ष्य बना कर आर्द्र सूरदास के भक्त चित्त का शत-शत रस स्रोतों में फूट पड़ना—यही बाल-लीला की मनोहारिता का कारण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूरदास ने प्रेम-लीला का भी वैसा ही विह्वल और तन्मयकारी रूप अंकित किया है। राधिका वास्तव में अपूर्व तन्मय प्रेम की प्रतिमा है। उसका चरित गीतात्मक है,—कोमल, सुकुमार, सरल और समर्पण-पूर्ण। इसी कारण राधिका और कृष्ण का प्रेम अत्यधिक स्वच्छ और कुण्ठा-हीन है। शुरू से अन्त तक राधिका सरल बालिका है। ऐसे गीतिकाव्यात्मक प्रेम को, चरित को सूर ने गीतों में ही गूँथ डाला। यही कारण है कि सूरसागर 'गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य" कहा जाता है।

सूरदास के समस्त काव्य में संगीत की अपूर्व झंकार है—कवि उस अनन्त प्रवाह में बहता-सा प्रतीत होता है। वह अपने को खो देता है। इस तन्मयता के साथ-साथ सूरदास के काव्य में शास्त्रीय पद्धति का अपूर्व निर्वाह है। अलंकार और गुण, वक्रोक्ति और पद-विन्यास ऐसे भरे पड़े हैं कि कवि की कल्पना-शक्ति और शास्त्र-ज्ञान को देख दंग रह जाना पड़ता है।

अष्टछाप के अन्य सात कवियों में नंददास ही सूरदास के समकक्ष हो सकते हैं। किन्तु नंददास सूरदास जैसे भावुक भक्त न थे जो सहज कवित्व से ही सन्तुष्ट रहे। उन्होंने भक्ति-सिद्धांतों का भी प्रचार किया। उनके काव्य में एक शास्त्रीय प्रौढ़ता और परिपक्वता है। सूर प्रेमातिरेक से मुग्ध करते हैं, नंद तर्क और युक्ति से प्रभावित करते हैं।

कृष्ण-काव्य-परंपरा को अष्टछाप के कवियों ने नयी गति, नयी भूमि और नयी प्रेरणा दी जिससे हिन्दी का परवर्ती काल कई क्षेत्रों में, कई रूपों में उपकृत हुआ। मीरा बाई और हित हरिवंश, बलभद्र मिश्र, सुन्दर दास, चतुरदास, धर्मदास आदि कृष्ण-भक्त कवि हुए। इनमें मीरा बाई अपनी तन्मयकारी समर्पण-भावना के लिए अति प्रसिद्ध है।

कृष्णभक्ति-काव्य में जो माधुर्य है वह धर्म और विश्वास के बन्धनों से बहुत ऊपर है। उसके विश्वजनींन तत्त्व ने, उसके अगाध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माधुर्य ने मुस्लिम सहृदयों को भी आकृष्ट किया। रसखान ऐसे कवियों में सबसे प्रमुख हैं।

कृष्ण-काव्य में कुछ चिरंतन सार्वभौम आकर्षण है। यही कारण है कि कोई ऐसा युग न रहा जिनमें कृष्ण-सम्बन्धी साहित्य की रचना न हुई हो। ध्रुवदास, आनंदघन, नागरी दास, मंजरी दास, ललित-किशोरी, भारतेन्दु, सत्यनारायण, रत्नाकर, हरिऔध आदि इसके प्रमाण हैं। हिन्दी का परवर्ती रीतिकाल तो कृष्ण-काव्य-परंपरा का ही एक बिगड़ा हुआ रूप है।

कृष्णभक्ति के द्वारा १४ वीं-१५ वीं सदी में जिस प्रेमभक्ति का बीज वपन हुआ, वह सैकड़ों वर्षों तक भक्तों को, काव्य-रचना को प्रेरणा देता रहा। इस भक्ति-साहित्य में आत्म-समर्पण का वेग है, हृदय के समस्त रागों का उद्वेलित प्रवाह है। ऐसा आत्म-समर्पण, ऐसी रागमयता स्त्री रूप से अधिक सम्भव है। आगे चलकर इस भक्ति-काव्य में स्त्रैण-भाव प्रबल हो उठा। इसका प्रभाव रामभक्ति शाखा पर भी पड़ा और सखी-सम्प्रदाय चल पड़ा। इससे कृष्ण-काव्य और रामकाव्य दोनों काव्य-परंपराओं में आन्तरिक शक्ति का ह्रास होने लगा। कृष्ण-काव्य तो बाद में शृंगार-प्रधान ऐसा हो उठा कि वह भक्ति-काव्य कहला भी नहीं सकता।

कृष्ण-काव्य ऐहिक समृद्धि और यौवन के उल्लास का साहित्य है। जीवन की सबसे प्रबल भूख का वह समाधान करता है। वह मनुष्य की सरसता का, उसकी रागमयता का, उसकी आनन्दप्रियता का प्रकाशन है। कृष्णकाव्य की प्रेम-साधना ऐकांतिक है—वह जगत् के संघर्ष से पृथक् है। यही उसका दोष है। इसी के फलस्वरूप यह साहित्य आगे चलकर क्षीणबल हो गया। आज भी कृष्ण-काव्य अनुराग-लालसा की परितृप्ति करता है, पर जीवन का संबल बन नहीं पाता।

—:०:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रीतिकाल : उसकी विशेषताएँ और महत्त्व

भक्तिकाल ने हिन्दी में अत्यधिक शक्तिशाली कवि और काव्य दिये। जितने प्रकार के काव्यरूप हो सकते हैं, उन सब का पूरा उन्मेष हुआ। साथ ही साथ लोक-साहित्य के भी विविध काव्य-रूप गृहीत हुए। प्रवंध-काव्य को तुलसीदास और जायसी ने, गीतिकाव्य को सूर, नंद, तुलसी और कबीर आदि ने, चर्चेटी, फाग, हिंडोला, वसंत आदि लोक-गीतों को कबीर, दादू, तुलसी आदि ने, तथा प्रेम-कथानकों को सूफी कवियों ने समृद्ध किया। फल-स्वरूप चारण कवियों की प्रशंसावली काव्य-वृत्ति शिथिल हो गई।

परंतु यद्यपि श्रृंगार रस को भक्त कवियों ने अपना कर उसका मुँह जड़ जगत् की ओर से फेर कर भगवान् की ओर कर दिया, तथापि श्रृंगार अपनी लौकिकता को पूर्णतः छोड़ न सका। कृष्णभक्त कवियों की प्रेमलीला में वह प्रच्छन्न रूप में विलासमय रहा ही। वद्यापति और नंददास में उसका लौकिक रस कुछ तीव्र है भी। नंददसा की नायिका - भेद की पुस्तक 'रस-मंजरी' वास्तव में श्रृंगार-प्रधान रचना है। केशवदास की 'रसिक-प्रिया' और 'कवि-प्रिया' भी वैसे ही ग्रंथ हैं।

जैसे-जैसे भक्तिकाल का आरंभिक उन्मेष कम हुआ और भक्तों में शैथिल्य आता गया, वैसे-वैसे लौकिक रस की कविता भी तेजी से सिर उठाने लगी। १७वीं सदी के वाद कृष्ण और राधा के नाम पर कविता लिखी तो खूब गयी, पर उस काल का श्रृंगार भक्तिपरक नहीं, ऐहिकता परक है। अब भक्ति मूल शक्ति नहीं रही, अलंकार, रस, नायिका भेद आदि ही मूल शक्ति रूप काव्य के प्रेरक-तत्त्व हुए। उस समय अलंकार-शास्त्र को 'रीति' 'कवित्तरीति, या 'सुकवि रीति' कहते थे। संभवतः इसी से प्रेरणा पा रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल को 'रीति-काल' कहा और उसकी अवधि को १६४३ ई० से १८४३ तक माना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रीति-काल तत्कालीन राजनीतिक शैथिल्य, और सर्वांगीन रुग्णता का प्रतिफलन है। औरंगजेब का ह्रासोन्मुखी मुगल साम्राज्य हिल उठा था; केन्द्रीय शक्ति क्षीण हो उठी थी; छोटे-छोटे राजे और नवाब विलासिता में डूबे हुए थे। राजनीति, धर्म, समाज और काव्य—कहीं भी कोई सशक्त नेता न था। नेतृत्व शक्ति का ऐसा दुःखद अकाल भारतीय इतिहास में फिर कभी नहीं पड़ा। फल-स्वरूप चतुर्दिक एक रुग्णता, एक ह्रासोन्मुखी संकीर्णता आ गयी। समाज शासक और शासित, भोक्ता और भोग्य के दो वर्गों में बँट गया। राजा, सामंत, नवाब और जमींदार भोक्ता थे, शासक थे, और कृषकादि शोषित, शासित भोग्य थे। उस काल का साहित्य इन्हीं भोक्तागणों के उपभोग की वस्तु है। जभी उसमें कामशास्त्र, अलंकार और चमत्कार का पुट है और जभी उसमें रुग्ण मनोवृत्ति की स्पष्ट छाप है। अतएव उस काल के प्रायः सभी कवियों ने (१) नाना प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाओं को बतलाने वाले कामशास्त्र का (२) उक्ति वैचित्र्य का विवेचन करने वाले अलंकार शास्त्र का और (३) नायक-नायिकाओं के विभिन्न भेदों और स्वभावों का विवेचन करने वाले रस-शास्त्र का, "इन्हीं" तीन प्रकार के ग्रंथों का सहारा ले कर काव्य-रचना की। रीति-काल के समस्त साहित्य को इसी कारण शृंगारी साहित्य कहते हैं।

कुछ इतिहासकारों ने रीतिकाल को शृंगार-काल जो कहा है, वह इसी दृष्टि से कि उस काल में शृंगार ही प्रधान रस रहा है। यद्यपि इस काल के कवियों ने कृष्ण और राधा का नाम जोड़ कर अथवा अलग से नीति-परक और भक्तिपरक रचनाएँ करके लौकिक पारलौकिक दोनों को जोड़ देने का प्रयास भी किया है; किन्तु फटे हुए दूध की भाँति दोनों वृत्तियाँ अलग-अलग ही दीख पड़ती हैं। दूसरी बात यह कि रुग्ण मनोवृत्ति की रसिकता रसिकता नहीं, कामुकता होती है। इस रसिकता में औदार्य और मस्ती नहीं, एक थकान और पलायन है।

कुछ इतिहासकारों ने इस काल को अलंकृत-काल कहा है। वह इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारण कि इस काल की रचनाओं पर अलंकारों की प्रधानता है। हिन्दी कवियों ने जिन संस्कृत अलंकार ग्रन्थों का अनुकरण किया, वे अत्यधिक विवेचनाहीन और पिष्टपेषित थे। मम्मट के बाद संस्कृत साहित्य में विवेचन-विश्लेषण हुआ नहीं, जो भी हुआ स्पष्टीकरण, शिक्षण, प्रचार। ऐसे ही ग्रंथों का अनुकरण हिन्दी के रीतिकालीन कवि करने लगे। फलतः हिन्दी का रीतिशास्त्र भी शुष्क, निर्जीव और विवेचनाहीन पिष्टपेषण मात्र हुआ। दूसरी बात यह भी है कि ये कवि आचार्य न थे, दार्शनिक न थे, तार्किक न थे जो सुविवेचित शास्त्र लिखते। ये तो सरस मनोविनोद योग्य कविता करने के उद्देश्य से रीति-शास्त्र का पल्ला पकड़ लेते थे। तीसरी बात यह कि जिनके लिए ये कविता लिख रहे थे, या अलंकारों का भेदोपभेद गिना रहे थे, वे लोग भी कोई गंभीर विवेचना नहीं चाहते थे। समस्त युग विनोद चाह रहा था, फारसी के जवाब में फड़कती हुई उक्तियाँ चाह रहा था। आश्रयदाता की माँग जैसी थी, वैसी ही रचना हुई। चौथी बात यह कि शास्त्र गद्य में विकसित होता है, गद्य से उसकी विवेचना होती है। उस काल का गद्य अविकसित था। कवियों ने गद्य के लिए चिंता भी नहीं की। वे भावुक रसिक कवि थे, कोई शास्त्रज्ञ प्रकांड विद्वान् नहीं।

इन सब कारणों से ही रीतिकाल में अलंकार, रस, आदि पर जो विवेचना हुई, वह न तो मौलिक है, और न प्रौढ़, न तो गंभीर है और न व्यापक।

कुछ अन्य लोगों ने इस काल को 'कला-काल' भी कहा है। उनका कहना है कि इस काल की कृतियों में कविता के कला का उत्कर्ष ही देखा जाता है। सजावट के अलंकरणों, चमत्कार के प्रदर्शनों आदि को देखकर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इस काल की कृतियों की कला वास्तव में समृद्ध है; पर यह कला कुछ ऐसी सीमित है, और उसके मूल में इन 'कलाकारों' की संकुचित वृत्ति ऐसी स्पष्ट है कि कला की स्फूर्ति और ताजगी उनमें नहीं। मानवीय आदर्शों से वंचित, जीवन की मस्ती से पृथक् इन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचनाओं को कला-कृतियाँ तो अवश्य कहेंगे; किन्तु अत्यधिक सीमावद्ध और पिष्टपेषित। और तब ऐसे काल को रीतिकाल कहने में कोई एतराज नहीं होता। रीतिकाल की मुख्य प्रवृत्तियों में से—

(१) शृंगार और ऐहिक भावना की प्रधानता,

(२) लक्षण ग्रंथों का प्रभाव,

(३) कला-पक्ष की प्रवलता,

(४) मुक्त कविता की प्रधानता

मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं।

रीतिकालीन शृंगार ऐहिक और वासनापूर्ण है। उसमें जीवन के संतुलित दृष्टि का अभाव है। न तो प्रिया और न प्रिय महत्वाकांक्षा से प्रेरित है, और न उनका प्रेम ही कुछ महान् है। वह प्रेम आदर्श प्रेम भी नहीं, यथार्थ प्रेम भी नहीं। आदर्श प्रेम नहीं, क्योंकि सामाजिक मंगल-भावना का आदर्श उसमें नहीं; यथार्थ नहीं, क्योंकि भौतिक यथार्थों और जीवन की वास्तविक कठोरताओं पर भी वह आधारित नहीं। अतएव उसकी ऐहिकता भी कामुकता ही है।

इसमें लिखे गये रीति-ग्रंथ चार प्रकार के थे—

(१) संपूर्ण काव्यांगों पर विवेचन करनेवाले ग्रंथ—भिखारी दास का काव्य निर्णय ऐसा ही ग्रंथ है।

(२) रसों का विवेचन करनेवाले ग्रंथ—केशवदास की रसिकप्रिया, तोष का सुधानिधि आदि ऐसे ही ग्रंथ है।

(३) नायक-नायिका भेद के ग्रंथ—चिंतामणि की शृंगार मंजरी, देव का सुख सागर तरंग, भिखारी दास का शृंगार-निर्णय।

(४) अलंकार के ग्रंथ—करनेस का कर्णाभरण, श्रुति भूषण, जसवंत सिंह का भाषा भूषण, मतिराम का ललित ललाम।

किन्तु ये सारे ग्रंथ अमौलिक, शुष्क और विवेचनाहीन हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रीतिकाल आत्म-प्रकाशन का काल न हो कर आत्म-प्रदर्शन का काल था। उस काल के जीवन में जो कृत्रिमता, अलंकरण और दिखावटीपन की प्रवृत्ति है, वह साहित्य में पूर्णतः प्रतिफलित हुई। कवियों को शाब्दिक चमत्कार की चिंता अधिक है। अतएव इस काल के साहित्य में कला अधिक है, काव्य कम। कवियों की दृष्टि संकुचित, मनोवृत्ति रुग्ण और चित्रण रूढ़िग्रस्त, निर्जीव हुआ है। यही कारण है कि उनका गार्हस्थ्य वर्णन भी एकांगी है, नारी-चित्रण भी विलासपूर्ण और प्रकृति-वर्णन भी निष्प्राण।

रीतिकाल के कवियों में वैयक्तिक विशेषता का अभाव है। सभी एक ही साँचे में ढले हैं। यह विशेषता रीति कालीन चेतना के घोर अधःपतन का जबर्दस्त प्रकरण है।

रीति-काल ऐतिहासिक दृष्टि से केन्द्रापगामी प्रवृत्तियों का प्रतिफलन था। टूटती हुई राजनीतिक शक्ति, बिखरते हुए सामंती प्रभाव, अकड़ती हुई सामाजिक चेतना के इस विशृंखल युग में प्रबंध-काव्य के लिए न तो वातावरण था, न मनोवृत्ति और न आकांक्षा। फलतः इस युग में मुक्तकों की बाढ़ आ गयी।

रीतिकाल की भाषा ब्रज है जो अव्यवस्थित, अपरिमार्जित और विकृत है; किन्तु उसमें कला की झंकृति और नक्काशी आ गयी है।

फिर भी रीतिकाल की अपनी महत्ता है। उसने भक्ति काल की कृष्ण काव्य-परंपरा की विकृतियाँ प्रत्यक्ष कर दीं जिससे हम आगे चल कर प्रतिक्रिया करने की क्षमता पा सके। रीतिकाल ने कुछ ऐसे रससिद्ध कवि दिए हैं जिनका महत्त्व तब तक रहेगा, जब तक मनुष्य को हृदय है। ऐसे कवियों में बिहारी, देव, मतिराम प्रमुख हैं। इन कवियों के कारण ही रीतिकाव्य को हम मादक कविता का साहित्य कहते हैं। उस साहित्य का वातावरण अत्यधिक मादक है। उनकी नायिकाएँ ऐश्वर्यदीप्त शोभा की मूर्त्तियाँ हैं। चतुर्दिक सौन्दर्य का मस्त और विलासपूर्ण सागर उमड़

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहा है। ऐसे साहित्य की ओर मनुष्य की आदिम भूख है और इस कारण यह उसे तृप्ति भी देता रहेगा। रीति-काव्य में एक स्वच्छंद प्रेमधारा का भी विकास हुआ जिसमें घनानंद, ठाकुर, बोधा, पद्माकर आदि रससिद्ध कवि हुए। शृंगारी कवियोंमें कुछ नीतिकार भी हुए जिन्होंने नीति की सरस सूक्तियाँ दी हैं। इसी काल में भूषण, सूदन, लाल आदि वीर रस के कवि हुए जिनकी ओजस्वी वाणी हमारी शक्ति का परिचय देती है। यह काल गद्य के विकास के लिए भी महत्त्वपूर्ण है।

रीतिकाल को हम आधुनिक काल की पीठिका कहेंगे। क्योंकि इसी काल में आकर शृंगारिकता और प्रदर्शन-प्रियता अपनी चरम विकृति पर पहुँची, उस सीमा पर, जहाँ आ कर प्रतिक्रिया आवश्यक हो उठी।

—:o:—

हिन्दी-कहानी : उद्भव और विकास

कथा-कहानियोंकी परंपरा प्राचीन है। हमारे जीवन का प्रत्येक पल कहानी कहता जा रहा है और प्रत्येक क्षण हम कहानी ही सुनने को व्यग्र हैं।

कहानियों में जो कुतूहल है, विस्मय और हर्ष के भाव हैं, उल्लास और क्षोभ के मार्मिक प्रसंग हैं—उनकी ओर मनुष्य का आदिम आकर्षण रहा है। अतः कह सकते हैं कि कहानी का प्रारंभ तब से हुआ होगा जब से मनुष्य को अनुभव करने को हृदय और प्रकट करने को वाणी मिली होगी।

वेदों में कहानी के बीज हैं। ब्राह्मणों और उपनिषदों में तो कुछ लघु कथाएँ हैं ही। नचिकेता की कथा, 'द' की कथा, रोहिताश्व की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथा आदि अनेक कथाएँ उनमें संकलित हैं। महाभारत, बौद्ध जातक आदि तो कहानियों के अक्षय कोष हैं। आगे चलकर पंचतंत्र, कथा सरित्सागर, वैताल पंचविंशतिका, शुक सप्तति, दशकुमार चरित आदि ग्रन्थों में कहानियों का भांडार ही सजाया गया। ये कहानियाँ भारत की महिमामयी देन हैं विश्व को क्योंकि इनके प्रभाव को लेकर तथा अनुवाद भी करके संसार की अनेक भाषाओं ने अपने कथा-साहित्य को समृद्ध किया।

किन्तु जिन्हें हम कहानी कहते हैं, उनसे ये कथाएँ भिन्न हैं। ये प्राचीन कथाएँ आख्यायिकाएँ हैं। इनका उद्देश्य शिक्षा है। इनमें कलात्मकता वैसी नहीं। इनकी उपदेशात्मकता ही प्रधान है। आज की छोटी कहानियाँ मूलतः कलात्मक हैं।

आधुनिक कहानियों का जन्म आज की कार्य-संकुल सभ्यता में हुआ। इस सभ्यता में जो यांत्रिक त्वरा है, वेग है, तथा वैज्ञानिक बुद्धिवाद के कारण मनुष्यों में जो घुटन है, वही आज की कहानियों का हेतु है। कहानियाँ प्रेस और यातायात के साधन की भी उपज हैं। यही कारण है कि ये कहानियाँ पश्चिम में पहले उपजीं और शांति-प्रिय भारत में बहुत बाद में आईं।

इन छोटी कहानियों की अनेक परिभाषाएँ दी जाती हैं—'इन्हें (Slice from life) जीवन से लिया गया एक अंश कह कर उसकी संक्षिप्तता और जीवनमयता की ओर संकेत किया जाता है। एच० जी० वेल्स ने कहा है—Any piece of short fiction which can be read in twenty minutes would be a short story अर्थात् कोई भी कथा जो कम से कम २० मिनट में पढ़ी जाय, छोटी कहानी है। ब्रेन्डर मैथ्यू की राय में—A short story deals with a simple character or a series of emotions called forth by a single situation. The short story which be an organic whole अर्थात् कहानी में एक ही चरित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा एक ही घटनात्मक स्थिति के बीच विविध प्रकार की भावनाओं का चित्रण होता है, उसे अपने आप में पूर्ण होना चाहिए। एलरी ने बतलाया है—A short story is just a horse race. It is the start and finish that counts most अर्थात् कहानी घुड़दौड़ के समान है जिसमें प्रारम्भ और अन्त ही सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। प्रेमचंद ने बतलाया है कि—'वर्त्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है वह उतनी दूषित समझी जाती है।'......'वर्त्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है'......'सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।'

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कहानी के लिए आवश्यक है कि उसमें ये तत्त्व हों—

(१) संक्षिप्त आकार
(२) रोचक प्रारम्भ और उद्बोधक अंत।
(३) मार्मिक घटनात्मक स्थिति अथवा भावनाओं का चित्रण।
(४) मनोवैज्ञानिक सत्य का आधार।
(५) आकर्षक शिल्प और शैली।

हिन्दी-कहानी के विकास-क्रम में यद्यपि प्राचीन सस्कृत, पैशाची, पाली आदि की कथाओं का कुछ योग अवश्य है, किन्तु वास्तव में हिन्दी-कहानी-साहित्य भी पाश्चात्य कहानी-साहित्य का ऋणी है। इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' और राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना', भारतेन्दु का 'एक अद्भुत अपूर्व सपना' तथा राधाचरण गोस्वामी लिखित 'यमलोक की यात्रा' वास्तव में कहानी नहीं। कहानी का प्रारम्भ तो 'सरस्वती' और 'इन्दु' नामक पत्रिकाओं के प्रकाशन से हुआ। यह समय १९०० से १९२७ तक का रहा जिसे हम हिन्दी कहानी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का प्रारम्भिक काल मान सकते हैं। किशोरीलाल की 'इन्दुमती', रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय', मैथिलीशरण गुप्त की 'निन्नानवे का फेर', वृन्दावन लाल वर्मा की 'राखी बंद भाई', बंग महिला की 'दुलाई वाली', प्रसाद जी की 'ग्राम', जिज्जा की 'परदेशी', राजा राधिका रमण सिंह की 'कानों में कंगना', कौशिक जी की 'रक्षा-बंधन', गुलेरी जी की 'उसने कहा था', और प्रेमचंद जी की 'पंच परमेश्वर' उस काल की श्रेष्ठ और प्रतिनिधि रचनाओं में हैं। इस काल में वे सारे कहानीकार प्रकाश में आ गये थे जिन्होंने कहानी-साहित्य की प्रथम श्री-वृद्धि की।

प्रेमचंद और प्रसाद, कौशिक और सुदर्शन, राजा राधिकारमण सिंह और वृन्दावन लाल वर्मा ने कहानी-जगत में खूब ख्याति प्राप्त की। प्रेमचंद और प्रसाद कहानी-साहित्य के ज्योतिष्पुञ्ज हैं—सूरज और चाँद की तरह।

प्रेमचंद जीवन के यथार्थों के मूर्त्तिकार थे, प्रसाद जीवन के आदर्शों के चित्रकार। प्रेमचंद ठोस वास्तविकता को आधार मान कर चलने वाले थे, प्रसाद सूक्ष्म और काव्यात्मक मानव-वृत्तियों को। प्रेमचंद की कहानियों में व्यक्त घटनाएँ प्रधान हैं, प्रसाद में अव्यक्त भावनाएँ। प्रेमचंद नाटकीय हैं, प्रसाद काव्यमय। प्रेमचंद सामयिक हैं, प्रसाद चिरंतन। प्रेमचंद भारतीय हैं, प्रसाद मानवीय। प्रेमचंद की भाषा कथा के अनुरूप चलती ज़ुबान है, प्रसाद की भाषा कथा के अनुरूप धीर और काव्यमयी है। जीवन के लिए यथार्थ और आदर्श जैसे आवश्यक हैं, उसी भाँति प्रेमचंद और प्रसाद।

इस प्रकार प्रसाद और प्रेमचंद हिन्दी के ऐसे कथाकार हुए जिनका प्रभाव युग के प्रायः समस्त कथाकारों पर पड़ा। दूसरे शब्दों में इन कथाकारों के विशिष्ट वर्ग या स्कूल हो गये। विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक', 'सुदर्शन', 'राधाकृष्ण' आदि प्रेमचंद स्कूल के कथाकार हुए, तो रायकृष्ण दास, विनोद शंकर व्यास और चंडी प्रसाद 'हृदयेश' आदि 'प्रसाद' स्कूल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के। उस समय के एक और कहानीकार ने समाज को आकृष्ट किया। वे हैं पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र'। समाज की कुत्सित यथार्थताओं की पोल उन्होंने अपनी कहानियों में खोली; किन्तु उसका प्रभाव कुछ दूसरा ही पड़ा।

प्रेमचंद और प्रसाद के वाद हिन्दी-कहानी-साहित्य में दूसरा मोड़ जैनेन्द्र कुमार के प्रवेश से हुआ। आप की 'खेल' नामक कहानी से प्रसन्न होकर कविवर श्री मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा था कि 'हिन्दी में हमको रवि वावू और शरत् वावू अव मिले और एक साथ मिले।'

जैनेन्द्र के आगमन से कहानी मनोविज्ञान की ओर तेजी से वढ़ने लगी। जैनेन्द्र की कहानियाँ जीवन के अन्तराल में डूवती हैं, मन के निविड़ अन्तस्तलों के उद्घाटन का प्रयास करती हैं, गुत्थियों से उलझती-सुलझती चलती हैं और इस प्रकार जीवन का अत्यधिक भावपूर्ण किन्तु झिलमिला चित्र उपस्थित करती हैं। धुँधलापन जैनेन्द्र की कहानियों का एक विशिष्ट अंग है और इस धुँधलेपन का उपयोग—छाया और प्रकाश का झिलमिल वातावरण—जैनेन्द्र की विशिष्ट कला है।

प्रेमचंद के होकर भी जैनेन्द्र प्रेमचंद के नहीं। इसका कारण यह है कि प्रेमचंद अधिक वाह्यनिष्ठ (objective) थे, जैनेन्द्र अधिक आत्मनिष्ठ (Subjective)। प्रेमचंद की कहानियों के चौखटे आस-पास का यथार्थ जीवन है, जैनेन्द्र की कहानियों के चौखटे आन्तरिक गुत्थियाँ, मर्म की उलझनें। प्रेमचंद की कहानियों का प्राण व्यवहार-धर्म है, उनके पात्र औसत मानवता के प्रतीक हैं। जैनेन्द्र की कहानियों का प्राण मानव-मन की गुत्थियाँ, दर्शन, मनोविज्ञान और नीति है। इस अन्तर का प्रभाव दोनों के शिल्प और भाषा-शैली पर भी दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद की कहानियों में जो डिजाइन है, जैनेन्द्र में वह नहीं। जैनेन्द्र की कहानियों में तराश, काट-छाँट, मोड़ और पेंच अधिक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचंद की भाषा सरल, चुस्त और सामान्य है; जैनेन्द्र की अक्खड़, लापरवाह और उलझी हुई।

जैनेन्द्र ने कथा के रूप और तत्त्व दोनों को नई दिशा दी। उनके साथ-साथ चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, पहाड़ी आदि ने कहानियों को नई प्रेरणायें और भूमियाँ दीं। मनोविज्ञान और मनोवैज्ञानिक विश्लेपण का जो प्रारम्भ जैनेन्द्र ने किया था उसका पूर्ण विकास जैनेन्द्र के परवर्ती कथाकारों में हुआ। इस दृष्टि से जैनेन्द्र के बाद के प्रतिनिधि कथाकारों में 'अज्ञेय' को हम सर्वश्रेष्ठ मान सकते हैं।

'अज्ञेय' सही अर्थ में आधुनिक हैं—कथा-शिल्प में तो उनका व्यक्तित्व युगान्तकारी है। पाश्चात्य मनोविज्ञान, दर्शन, कला-साहित्य और प्रायः समस्त शिल्प-शैली-वैचित्र्य का ज्ञान 'अज्ञेय' को है और इसका स्पष्ट प्रभाव उनके साहित्य पर पड़ा है। 'कड़ियाँ', 'प्रतिध्वनियाँ', 'कोठरी की बात', 'परम्परा', 'अमर वल्लरी' आदि उनकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

इलाचंद्र जोशी की कहानियों में मनोविश्लेषण अधिक है, जीवन की सत्ता कम; सैद्धान्तिक ज्ञान अधिक है, व्यावहारिक मनुष्यता कम। 'पहाड़ी' में यौन-प्रवृत्ति की प्रबलता है, भगवती प्रसाद वाजपेयी में कलात्मकता की। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की कहानियों में रूमानी प्रवृत्ति के साथ-साथ यथार्थ और मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण मिलता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को लेकर लिखने वालों में यशपाल प्रमुख हैं। 'पिंजरे की उड़ान', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त' आदि अनेक संग्रहों में जो कहानियाँ हैं उनकी प्रेरक-भावना सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विषमता है। यशपाल की विशेषता सिद्धान्त को कलात्मक आवरण देने में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्याधुनिक कथाकारों में अमृत राय, विष्णु प्रभाकर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, फणीश्वर नाथ 'रेणु', कर्त्तार सिंह दुग्गल, मार्कण्डेय, अनन्त कुमार पाषाण, शिवकुमार सिंह, रामदास मिश्र आदि प्रमुख हैं।

कहानियाँ अब अधिक सजीव और यथार्थ हो उठी हैं और जीवन के समीप आ गई हैं। उनमें मिट्टी की सोंधी गन्ध है, गाँव के पूरे वातावरण की छाप है, सच्ची मनुष्यता की तस्वीर है।

नारी कहानी-लेखिकाओं ने भी कथा-शिल्प के विकास में योगदान किया है। शिवरात्री देवी, कमला चौधरी, उषा देवी मित्रा, होमवती देवी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, अमृताप्रीतम आदि के नाम इस दृष्टि से स्मरणीय हैं।

हास्य-व्यंग्य की कहानियों के लिए भगवतीचरण वर्मा, राधाकृष्ण, अन्नपूर्णानन्द, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, केशवचन्द्र वर्मा और अलबर्ट कृष्ण अली के नाम उल्लेखनीय हैं।

ऐतिहासिक कहानियों की श्रीवृद्धि भगवतशरण उपाध्याय, वृन्दावन लाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन आदि ने की।

इस प्रकार हिन्दी कहानी जीवन-प्रेरणा और विकास के नियमों के अनुरूप नई दिशाओं की ओर उन्मुख हो रही है। हिन्दू परिवार और सामाजिक जीवन के सारे परिवर्त्तन आज की कहानियों में प्रतिबिम्बित दिखाई पड़ते हैं। विप्लव, विद्रोह और आन्दोलन के समस्त इतिहास इन कहानियों में सुरक्षित हैं; शोषण, दमन और नव-जागर्ति के मार्मिक चित्र इनमें संजोये हुए हैं। इन कहानियों में मध्यमवर्ग की उखड़ती साँसों की आवाज सुनाई पड़ेगी; तथा रुद्ध मानवता का जयनाद भी ध्वनित होगा।

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी आलोचना : एक दृष्टि

जर्मन दार्शनिक श्लेगेल का कहना है कि साहित्य राष्ट्र के व्यापक मानसिक जीवन का निचोड़ है। युग-युग के मानसिक अनुभवों के प्रतिविम्ब को ही हम साहित्य कहते हैं—और इन अनुभवों की शृंखला अटूट है, उनका प्रभाव अमिट है। साहित्य उस आकाश-दीप के समान है जिसकी ज्योति मानव-मात्र ने ग्रहण कर पथ-संधान किया है। साहित्य की इस शाश्वत शक्ति का उद्घाटन, मूल्यांकन और संरक्षण आलोचना करती है। इससे आलोचना की महत्ता स्पष्ट होती है।

आलोचना के चरणों पर साहित्य का मुकुट सदा झुकता आया है; जैसे जहाँगीर का नूरजहाँ के कदमों पर। लेकिन शाहंशाह जहाँगीर ही था; सम्राट साहित्य ही है। उस चक्रवर्ती सम्राट् साहित्य को राजतिलक लगा कर मूर्धाभिषिक्त भले ही आलोचना करे; हुकूमत तो सम्राट् की ही चलती है; तिलक लगाने वाले की नहीं। किन्तु इससे आलोचना के विशेष गौरव और मान का अन्दाज लग जाता है।

साहित्य पहले आता है, आलोचना बाद में। साहित्य के जन्म के बाद, उसके नियमों-कानूनों की रूपरेखा बनती है, जन-रुचि का अन्दाज लगाया जाता है और तब उनके अनुरूप विधि-विधान तैयार करके हम आलोचना की कसौटी बनाते हैं।

फिर साहित्य व्यक्ति की साधना और भावना की उपज है, आलोचना समूह की आकांक्षा और कल्पना की उपज। व्यक्ति पहले है, समूह बाद में।

आलोचना साहित्य और जन-समूह के बीच सेतु है। वह साहित्य को बोधगम्य, सरल और स्पष्ट रूप में जनता के निकट रखती है। आलोचना साहित्य के रस को जन-जन तक ले जाना चाहती है और साथ ही साथ जन-समूह की आकांक्षाओं और कल्पनाओं को, रुचि और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोवृत्ति को साहित्यकार के पास पहुँचाती है। इस प्रकार आलोचना के द्वारा साहित्य जीवन में अधिष्ठित होता है और उसी के कारण जीवन साहित्य में प्रतिष्ठित होता है।

आलोचना साहित्य का प्रहरी है और समाज का विधायक भी। साहित्य के शुद्ध पवित्र मंदिर में समस्त विकृत और अपवित्र साहित्य के लिए आलोचना ही 'प्रवेश निषिद्ध' लिख डालती है। फिर आलोचना ही जन-जन को यह बतलाती है कि क्या पठनीय है, क्या मननीय और क्या बिल्कुल गर्हणीय और त्याज्य। वह शुद्ध साहित्य की कसौटी है, साहित्य के मात्त ंग के लिए अंकुश-सहित महावत है। हम यह भी कह सकते हैं कि साहित्य यदि ब्रह्म हो, तो आलोचना विष्णु और रुद्र दोनों है। इसके साथ-साथ आलोचना जन-चेतना का निर्माण भी करती है। वह जन-रुचि का परिष्कार और संस्कार करती है। यदि समाज की रुचि विकृत हो, साहित्यिक संस्कार अच्छे न हों, तो आलोचना समाज को सुरुचि-सम्पन्न और सुसंस्कृत भी बनाती है। साधारणतः समाज की रुचि निम्नगामिनी होती है, आलोचना सदा कोशिश करती है कि समाज की साहित्यिक रुचि का स्तर गिरने न पाये। आलोचक समाज का श्रेष्ठ प्रतिनिधि है। वह समाज के स्वत्वों और आकांक्षाओं की रक्षा करता है। आलोचना में इस प्रकार न केवल साहित्यकार का हृदय सुरक्षित रहता है किन्तु साथ ही साथ जन-समूह की आत्मा भी संरक्षित रहती है। इसी से कहा गया कि आलोचना साहित्य-स्रष्टा और समाज के बीच सेतु-बंधन करती है।

ड्राइडेन के मतानुसार—"आलोचना निर्णय का एक मानदण्ड है जो उन साहित्यिक विशिष्टताओं का लेखा रखती है जो साधारणतया किसी विचारशील पाठक वर्ग को आनन्ददायी होंगे। आलोचना हमारे तर्क का भी मानदंड होगी।" एल्ज की राय में—"सौन्दर्यात्मक आलोचना-प्रणाली साहित्यिक कृतियों की तुलनात्मक विवेचना प्रस्तुत करती है, तत्पश्चात् साहित्य के इतिहास में उसके महत्त्व का निर्णय करती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैरिस ने कहा है—'आलोचक साहित्य-क्षेत्र का श्रेष्ठ प्रबंधकर्त्ता है।' इन सब का निष्कर्ष हम यह मान सकते हैं कि श्रेष्ठ साहित्य में आलोचना का वही स्थान है, जो धर्म का जीवन में। अतएव जो साहित्य जितना विकसित और उन्नत होगा, उसकी आलोचना भी उतनी ही विकसित और उन्नत होगी।

हिन्दी आलोचना पर दृष्टिपात करने के पहले हमें यह ध्यान में रखना होगा कि हिन्दी-साहित्य भारतीय साहित्य-परम्परा का ही विकास है और इसी हेतु हिन्दी-आलोचना भी प्राचीन भारतीय आलोचना-प्रणाली से कुछ बहुत सम्बन्धित है। यह बात ठीक है कि प्राचीन आलोचना पद्धति में काव्य के अद्वितीय तत्त्व रस को स्थिर समझा गया था और अर्वाचीन समालोचना में सब कुछ परिवर्त्तनशील और सापेक्ष समझा जाता है, रस भी और शैली भी। इस प्रकार प्राचीन और नवीन आलोचना-पद्धतियों में मूलतः अन्तर है, किन्तु इस अन्तर के रहते हुए भी अर्वाचीन समीक्षा प्रणाली को प्राचीन समालोचना-पद्धति का विकास तो मानना ही पड़ेगा।

प्राचीन संस्कृति आलोचना प्रणाली में यह बात सभी आचार्यों ने—आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक—स्वीकार किया है कि काव्य का अद्वितीय तत्त्व रस है। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने 'रसात्मक वाक्यं काव्यं' कह कर उसी सिद्धांत की घोषणा की। इस 'रस' का सामान्य रूप आनन्द है और विशेष रूप मानसिक भावों का परिपाक और ये ही काव्य के प्रयोजन या लक्ष्य हैं। किन्तु इस सिद्धांत के विरोधी कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की आत्मा 'रस' को मुख्यता न दे कर काव्य के शरीर को प्रधान माना। ऐसे आचार्यों में से आचार्य दण्डी और भामह आदि ने अलंकार को, वामन आदि ने रीति को और कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की श्रेष्ठ वस्तु समझा। इस प्रकार रस-वादी (जिसमें ध्वनि भी हम ले सकते हैं), अलंकार-वादी, रीति-वादी और वक्रोक्ति-वादी नाम से संप्रदाय भी चले। किन्तु 'रसवाद' ही मुख्य सिद्धांत और सर्वमान्य 'वाद' रहा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी-आलोचना पर इन सारे संप्रदायों और सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। यदि हम हिन्दी-आलोचना को तीन सुस्पष्ट क्रमों में विभाजित करें और उनके नाम (१) आरंभिक काल, (२) मध्यकाल और (३) आधुनिक काल रखें, तो आरंभिक काल की समस्त आलोचना-पद्धति पर रीति और अलंकार का प्रभाव स्पष्ट दीखेगा।

हिन्दी-आलोचना का आरंभ हिन्दी-साहित्य के रीति-काल से हुआ है। हिन्दी-साहित्य का रीति-काल जिस प्रकार ह्रासशील संस्कृत और अपभ्रंश-साहित्य का ही फैलाव था, उसी प्रकार उस काल की आलोचना-पद्धति भी। अधिकतर कवि नायिका-भेद अथवा अलंकार और पिंगल समझाने के लिए कविता लिखते थे। देव और बिहारी, भूषण और भिखारीदास, मतिराम और यशवंत सिंह, पद्माकर और प्रताप साहि यहाँ तक कि केशवदास और कुलपति ने भी आलोचना का उचित मानदंड उपस्थित नहीं किया। किन्तु उस काल के समस्त कवियों के सामने काव्य के दोनों सम्प्रदाय थे—ध्वनि और रीति। ध्वनि अथवा रसवादियों में कुलपति, श्रीपति, दास, प्रताप साहि, मतिराम, देव, रसलीन, बेनी प्रवीन (घनानन्द, ठाकुर, नेवाज, बोधा आदि रीतिमुक्त भी) प्रमुख हैं। अलंकार वाद के प्रमुख हैं राजा यशवंत सिंह, केशवदास, उत्तमचंद भंडारी, रहमान आदि। अतएव रीतिकाल की समीक्षा-पद्धति हिन्दी की मौलिक उद्भावना नहीं। उसमें मौलिकता है ही नहीं। "सारांश यह है कि इस युग में काव्य-मर्मज्ञ अनेक हुए। प्रकांड विद्वानों की भी कमी नहीं थी। परन्तु एक तो युग की रुचि ही गंभीर नहीं रह गई थी; लोग मीमांसा का नहीं, रसिकता का आदर करते थे—इसलिए उनकी दृष्टि संस्कृत के उत्तरकालीन अधोगत साहित्य-शास्त्र से ऊपर नहीं जा पाती थी। दूसरे, सबसे बड़ा अभाव गद्य का था, जिसके कारण सूक्ष्म विश्लेषण संभव ही नहीं था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया, विवेचनात्मक नहीं हो पाया।" (१)

---

(१) रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र पृष्ठ १५४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी गद्य के विकास के साथ आलोचना-पद्धति में भी विकास आया। आलोचना गद्य के माध्यम से ही हो सकती है। रीतिकाल के कुछ आचार्यों ने इसीलिए पद्य की जगह गद्य का व्यवहार किया था—कुलपति, दास और विशेष रूप से रसिक गोविन्द ने पद्य को अपर्याप्त समझ कर गद्य का प्रयोग किया था। किन्तु वास्तव में गद्य का उचित उपयोग, चूँकि वह विकसित और समर्थ हो सका था, भारतेन्दु-युग से ही हुआ। 'कवि-वचन-सुधा' या अन्य पत्रों में भारतेन्दु इसी कारण हिन्दी-आलोचना को दृढ़ नींव पर रख सके। भारतेन्दु ने नाटक नामक निबंध लिख कर यह भी प्रमाणित किया कि वे सैद्धांतिक आलोचना लिख भी सकते हैं और प्राचीन सिद्धांतों में वैसी मौलिक उद्भावनाएँ भी कर सकते हैं जो युगानुरूप हों।

आलोचना की दृष्टि से भारतेन्दु भी रीतिकालीन ही कहे जायँगे। वास्तव में रीति का प्रभाव तो द्विवेदी-युग तक रहा। इस युग में द्विवेदी-जी के अतिरिक्त पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णविहारी मिश्र, लाला भगवान-दीन, मिश्रवंधु आदि प्रमुख समीक्षक हुए।

द्विवेदी-युग का साहित्य आदर्शात्मक था। उस साहित्य में रीति से मुक्त होने की लालसा तो है, किन्तु वह मुख्यतः काव्य के क्षेत्र में। आलोचना के क्षेत्र में प्राचीन परिपाटी को ही मान्यता मिली। इस कारण पं० पद्मसिंह शर्मा की आलोचना काव्य-शरीर को ले कर चली और वे विहारी और देव को ही आदर्श बना कर आगे बढ़े। लाला भगवानदीन ने भी प्राचीन कवियों पर ही रीतिकालीन पद्धति पर केशव और सूर, बिहारी की समीक्षा उपस्थित की। पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने भी देव और विहारी पर तुलनात्मक आलोचना का ग्रंथ लिखा। 'मिश्रबंधु' की समीक्षा पर भी रीतिकाव्य का गाढ़ा प्रभाव है। स्वयं द्विवेदी जी की काव्य-विषयक मान्यताएँ प्राचीन थीं।

यह सब होते हुए भी समीक्षा के क्षेत्र में व्यवस्थित विकास के लिए द्विवेदी-युग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह इसलिए नहीं कि पं० पद्मसिंह शर्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने 'संजीवन भाष्य' लिख कर आलोचना को एक नया मोड़ दिया, इस लिए भी नहीं कि लाला भगवानदीन ने प्राचीन कवियों पर टीकाएँ लिख कर उनके काव्य को लोकव्यापी बनाया तथा विहारी और केशव आदि के पाठ सुलझाने का ऐतिहासिक कार्य किया, इसलिए भी नहीं कि 'मिश्रबंधु' ने कवियों की जीवनी पर प्रकाश डालते हुए उनके काव्य का मूल्यांकन किया, इसलिए भी नहीं कि पं० कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और विहारी' लिख कर दो समानधर्मी कवियों का प्रथम तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया; किन्तु इसलिए कि द्विवेदी का निष्ठावान् व्यक्तित्व समस्त साहित्य की धारा को एक नई दिशा की ओर मोड़ रहा था। इसलिए भी कि उस युग के साहित्य के मूल में नवयुग की भावना थी, नयी चेतना का स्पंदन था, नये कवियों और लेखकों को द्विवेदी जी का ममत्वपूर्ण प्रोत्साहन और स्नेहसिक्त फटकारें मिलती थीं। युग-द्रष्टा साहित्यकार के रूप में जो द्विवेदी जी आसीन हैं, वह समीक्षक की हैसियत से ही। द्विवेदी जी हिन्दी के सर्वप्रथम निष्पक्ष आलोचक थे। अतएव 'हिन्दी-नवरत्न' पर उन्होंने तीखे प्रहार किये। द्विवेदीजी ने नई शैली के स्वदेश-प्रेमी कवियों को ऊँचा स्थान दिया। यह सिद्ध करता है कि वे नवीन काव्यधारा के प्रति कैसे जागरूक थे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "समीक्षा की रूपरेखा द्विवेदीजी ने प्रस्तुत की, यद्यपि उस में रंग भरने, उसे प्रशस्त करने और शास्त्रीय मर्यादा देने का कार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पन्न हुआ।" (१)

पं० रामचंद्र शुक्ल हिन्दी-आलोचना जगत् के सूर्य कहे जा सकते हैं। शुक्लजी काव्य की आत्मा रस को स्वीकार करते हैं, पर वे उसे सामाजिक व्यवहार की पृष्ठभूमि पर रख कर ही परखते हैं। इसे ही हम शुक्लजी का काव्यात्मक लोकवाद कह सकते हैं। शुक्लजी की दृष्टि में काव्य का रस प्रबंध-योजना से ही प्राप्त होता है। जहाँ प्रबंध नहीं

(१) आधुनिक हिन्दी-समीक्षा : पं० नन्ददुलारे बाजपेयी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहाँ रस नहीं, रस के छींटे हों तो हों। अतएव शुक्लजी तुलसी को ऊँचा स्थान देते हैं, सूर को नहीं। शुक्लजी रस को नैतिक पृष्ठ भूमि पर आधारित देखना चाहते थे। "विशुद्ध काव्यात्मक भाव-संदेश की अपेक्षा नैतिक भाव-सत्ता की ओर शुक्लजी का झुकाव कहीं अधिक था।" (१) सामान्य नैतिकता का ही नहीं, भारतीय समाज पद्धति और वर्ण-व्यवस्था का भी प्रभाव शुक्लजी की समीक्षा पर देखा जाता है।......शुक्लजी काव्य के नैतिक आदर्श के कारण भावनावान् कवि सूरदास के प्रति तथा विशिष्ट समाज व्यवस्था के पक्षपाती होने के कारण कबीर के प्रति जो मत व्यक्त करते हैं, उनसे शुक्लजी जी की समीक्षा संबंधी व्यक्तिगत दृष्टि का परिचय मिलता है।"

"एक नवीन उत्थानात्मक काव्यादर्श का निर्माण शुक्लजी ने अवश्य किया, जिसके अन्तर्गत हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का आरंभिक विवेचन सुन्दर रूप में किया जा सका और हिन्दी-समीक्षा की एक पुष्ट परिपाटी बन सकी; किन्तु यह नहीं कह सकते कि शुक्लजी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षाएँ भारतीय या पाश्चात्य साहित्यानुशीलन की उन्नततम कोटियों तक पहुँच सकी हैं। साहित्यिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का प्रथम चरण शुक्लजी ने पूरा किया। उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्त्व है। भारतीय काव्य-समीक्षा के पुनरुज्जीवन का प्राथमिक प्रयास उन्होंने किया। काव्य-आत्मा के नैतिक स्वरूप की उन्होंने पूर्ण प्रतिष्ठा की; किन्तु काव्य का निर्विशेष स्वरूप जिसमें वस्तु और प्रक्रिया, रस और अलंकार, भाव और भाषा के बीच पूर्ण तादात्म्य की खोज होती है, शुक्लजी की समीक्षा में उपलब्ध नहीं। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के बहुत थोड़े और एक विशेष अंश पर ही उनकी दृष्टि गयी, जो व्यापक नहीं कही जा सकती।" (२)

इसी समय आचार्य श्यामसुन्दर दास और पं० पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी की पुस्तकें 'साहित्यालोचन' और 'विश्व-साहित्य' प्रकाशित हुईं।

(१) और (२) आधुनिक हिन्दी-समीक्षा : नन्ददुलारे वाजपेयी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"साहित्यालोचन' उनका मौलिक नहीं; किन्तु वह साहित्य और उसके अंगों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का प्रथम प्रयत्न है। सैद्धांतिक दृष्टि से शुक्लजी के नैतिक और व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है। इस ग्रंथ का हिन्दी-साहित्य-समीक्षा पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा और साहित्य को नैतिक सीमा से ऊपर उठाकर सार्वजनीन कलावस्तु के रूप में देखने की अपूर्व प्रेरणा पैदा हुई।" (१)

लगभग इसी समय एक नये प्रकार का साहित्य जन्म ले रहा था। राष्ट्र की नव जागृति के इस काल में जो कविता आ रही थी उसमें सौन्दर्य के प्रति अगाध मोह था। रवीन्द्र और प्रसाद, पंत और निराला, महादेवी और रामकुमार वर्मा एक नये प्रकार के रहस्यवादी काव्य का सृजन करने लगे थे। उनकी कविता को हम छायावाद कह कर पुकारते हैं। छायावाद ने कल्पना को अपूर्व छटा दी, संवेदना को अत्यधिक सूक्ष्मता दी, दर्शन को काव्य का रस पिलाया और भाषा को नयी अभिव्यंजना तथा प्रकृति अभिनव चेतना दी। काव्य उच्चतम सांस्कृतिक आध्यात्मिक भूमि पर पहुँचा। इस आत्माभिव्यंजक काव्यधारा के अनुरूप इस युग की समीक्षा भी वैसी ही आध्यात्मिक, सौन्दर्यवादी और जीवनप्रद हुई। प्रसादजी का 'काव्य, कला और अन्य निबंध,' 'पंतजी की गद्य भूमिकाएँ-, महादेवी वर्मा के आलोचनात्मक निबंध, निराला जी की टिप्पणियाँ छायावाद के प्रतिनिधि कवियों के द्वारा लिखे हुए उस युग के आलोचनात्मक विवेचन हैं। उनमें एक नयी प्रेरणा है, नया तेज है। अपनी गहनता में वे अद्वितीय और व्यापकता में अभूतपूर्व हैं। यद्यपि भाषा में और शैली में एक अतिरिक्त सौन्दर्य-संवेदना है, अतिशय सांगीतिकता है; किन्तु फिर भी यह युग काव्य के अनुभूति-पक्ष को सबसे महान् गौरव दे सका। आलोचकों ने अनुभूति के मानसिक आधार की विवेचना की; काव्य, कला और जीवन का गूढ़ तात्त्विक विश्लेषण किया तथा काव्य और जीवन को सार्वजनीन, सार्वभौम भूमि पर प्रतिष्ठित किया। प्रथम बार काव्य को ऐसी महिमा मिली; प्रथम बार समीक्षा ऐसी क़सौटी बना सकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि जिस पर हिन्दी-साहित्य विश्व-साहित्य के साथ समझा-परखा जा सके। यहा छायावादी युग की विशेष देन है।

दो महायुद्धों के बीच का यह युग इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि उसने हिन्दी-समीक्षा को और साहित्य को सच्ची चेतना दी।

उसके बाद का साहित्य वादों और प्रवादों का साहित्य है। पूँजीवाद के विरुद्ध जन-आन्दोल हुए; सामन्तशाही और राजतंत्र के विरुद्ध लोकतंत्रात्मक उद्वेलन हुए। मार्क्स और एंजिल्स के भौतिकवादी सिद्धान्त दर्शन और राजनीति, समाज और साहित्य में छा-से गये। फ्रायड, एडलर, युंग आदि के मनोविश्लेषण की उपलब्धियाँ, कर्क गार्ड, सार्त्र आदि की मान्यताएँ तथा विज्ञान के नये सिद्धान्त ने साहित्य-जगत् को अनेकानेक दर्शन, वाद और सिद्धान्त दिये। फलस्वरूप मार्क्सवादी, प्रगतिवादी, प्रभाववादी, आत्माभिव्यंजनावादी, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक आदि विविध मतों के आलोचक हैं जो अपनी-अपनी दृष्टि से साहित्य की आलोचना करते हैं।

प्राचीन समीक्षकों में रसवादी समीक्षक ही हैं, जो काव्य के मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक और भावात्मक स्वरूप की व्याख्या करते हैं। ऐसे समीक्षकों में श्रीनंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। डा० नगेन्द्र में मनोविज्ञान को मूल मान कर चलने का आग्रह है तो श्रीविश्वनाथ प्रसाद मिश्र में प्राचीन शास्त्र को आधार मान कर चलने की कट्टरता।

प्रभाववादी समीक्षक काव्य की वैयक्तिक व्याख्या उपस्थित करता है तो प्रगतिवादी समीक्षक काव्य को समाज की दृष्टि से देख कर उसकी सामाजिकता की व्याख्या प्रस्तुत करता है। श्रीरामविलास शर्मा, अमृत राय, शिवदान सिंह चौहान, धर्मवीर भारती आदि ऐसे ही आलोचक हैं। ऐतिहासिक समीक्षा साहित्य को देश-काल और परिस्थिति की सापेक्षता में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परखती है तो अन्तश्चेतनावादी समीक्षा कवि की आत्मतृप्ति की दृष्टि से काव्य का मूल्यांकन करती है।

इस प्रकार हिन्दी आलोचना कई प्रकार के मतों और दृष्टियों को ले कर आगे बढ़ रही है; अनेक धाराएँ फूट निकली हैं, किन्तु उनका संयोग न हो सका है। अतएव सैद्धान्तिक दृष्टि से हमारी समीक्षा इस नव-युग में प्रयोग की अवस्था में है। आशा है समन्वय के द्वारा हम वैज्ञानिक स्थिति में शीघ्र पहुँच भी जायेंगे।

—:o:—

हमारा रंगमंच

पढ़ना और बात है, सुनना और। अखबार में भाषण पढ़ा। प्रतिक्रिया हुई। पर प्रतिक्रिया मन्दी थी। उसी भाषण को खुद सुन लेते, तो प्रतिक्रिया तीव्र होती। लेख और भाषण में यही अन्तर है। लेख निर्जीव होता है, भाषण सजीव; लेख केवल नेत्रों के माध्यम से प्रभाव डालता है, भाषण श्रवणेन्द्रिय के साथ-साथ अनेक अन्य प्रकार के प्रभाव भी डालता है। जितना फर्क लेख और भाषण में है, पढ़े गये गीत और गाये गये गीत में है, उससे अधिक अन्तर पढ़े गये नाटक और रंगमंच पर देखे गये नाटक में है। केवल पढ़ने पर नाटक स्थूल लगते हैं—निर्जीव से, उनके पात्र कठपुतले-जैसे, और समस्त नाटक कुछ खोया-खोया-सा, अभावग्रस्त-सा जँचता है। रंगमंच पर उन्हें देखिये कैसे सजीव, जीवंत और प्रेरणापूर्ण हो जाते हैं। रंगमंच नाटक के आवश्यक अंग हैं—ऐसे कि हम यह भी कह सकते हैं कि नाटक केवल धड़ और अंग है, मुख-मंडल तो रंगमंच है। बिना रंगमंच के नाटक कवंध है। यह भी कह सकते हैं कि किसी शापवश आज नाटक और रंगमंच अलग-अलग राहु और केतु की तरह दीखता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय नाट्य-शास्त्र से ऐसा मालूम होता है कि रंगमंच और नाटक का भारत में सुन्दर विकास प्राचीन-काल में ही हो चुका था। नाटक स्वतः 'नट्' से निकला शब्द है और नाटक को संस्कृत में 'रूपक' कहते हैं जिसमें रूप धारण कर लोक-परलोक की घटित अघटित घटनाओं का दृश्य दिखाया जाता है। अतएव नाटक का संबंध अभिनय से है और अभिनय रंगमंच पर ही हो सकता है। 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार तो ब्रह्मा ने मनोविनोद के लिए ही ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य नामक पंचम वेद की रचना की थी। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में केवल नाटकों पर ही नहीं लिखा। दूसरे ही अध्याय में उन्होंने रंगमंच का भी विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है। रंगमंच को उस समय प्रेक्षागृह कहते थे। भरत मुनि के अनुसार प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे— विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट प्रेक्षागृह ही सर्वश्रेष्ठ होता था। चतुरस्र राजा, धनवान आदि के लिए होता था। त्र्यस्र थोड़े से लोगों के लिए वैयक्तिक प्रेक्षागृह था। प्रेक्षागृह में दर्शकों के लिए, साज-सज्जा के लिए और अभिनय और आराम के लिए अलग-अलग स्थान थे। रंगमंच का पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता था जिसमें से नेपथ्य में जाने के लिए दो द्वार होते थे। समस्त रंगमंच सुन्दर चित्रों और नक्काशी से सजा रहता था। आवाज के गूँजने, वायु और प्रकाश के आने-जाने के लिए उत्तम प्रबन्ध रहता था। इससे पता लगता है कि भरत मुनि के पहले से ही रंगमंच का उचित विकास हो चुका था।

संस्कृत के अधिकतर नाटक राज-सभाओं में खेले जाते थे। राजाओं के यहाँ रंगमंच की अलग व्यवस्था थी। साथ ही साथ गण-राज्यों में जन-साधारण के रंगमंच की परम्परा रही होगी। लिच्छवियों में नृत्य और गीत के साथ-साथ अभिनय भी होता था। परन्तु रंगमंच की यह परम्परा लुप्त हो उठी।

संस्कृत की यह परम्परा बहुत दिनों तक चल न सकी। रंगमंच

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल राजाओं के यहाँ की शोभा थे। मुगल-शासन-काल में रंगमंच और नाटक का विकास रुक-सा गया। हाँ आसाम, मिथिला और नेपाल में राजाओं ने नाटकों तथा रंगमंच को प्रश्रय दिया। उस काल में ही तुलसीदास और सूरदास ने रामलीला तथा रासलीला के लिए प्रारंभिक प्रयत्न किया। रामलीला और रासलीला के साथ-साथ बंगाल की यात्रा-पार्टी और पश्चिम भारत की नौटंकी का नाम भी लिया जा सकता है। जन-नाट्य-शाला के ये प्रारंभिक रूप हैं।

आधुनिक हिन्दी-रंगमंच के जनक भारतेन्दु जी थे। भारतेन्दु जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा ने नाटक, अभिनय, रंगमंच तीनों का विकास किया। भारतेन्दु जी स्वयं सफल अभिनेता थे। उन्होंने एक मंडली भी तैयार की थी जो जगह-जगह अभिनय करती थी। भारतेन्दु जी तथा उनके मंडल के उत्साही साधकों की साधना ने हिन्दी रंगमंच को जीवनी-शक्ति दी। किन्तु साहित्य का रंगमंच से यह मिलन क्षणिक ही रहा।

हिन्दी-रंगमंच का इतिहास इसके बाद व्यवसायी थियेटर कम्पनियों के द्वारा बना। ये कम्पनियाँ कलकत्ता और बनारस में खुलीं। इनके मालिक पारसी थे और इनके यहाँ के नाटक लेखक अक्सर मुसलमान होते थे। आगा हश्र काश्मीरी, बेताब आदि मुख्य हैं। ये व्यवसायी मंडलियाँ थीं अतएव इनके रंगमंच तो काफी भड़कदार, प्रशस्त और वैज्ञानिक होते थे, किन्तु इनके यहाँ के नाटकों में साहित्यिकता का अभाव था। इस ओर दृष्टि न डालें, तो हम कह सकते हैं कि इन्होंने रंगमंच के पुनरुज्जीवन के लिए जो प्रयास किया वह गौण नहीं।

इन व्यवसायी कम्पनियों के साथ-साथ काशी और प्रयाग में कुछ अलग मंडलियाँ भी नाट्य-प्रेमी युवकों के द्वारा खोली गयीं। ऐसी मंडलियों में 'व्याकुल' जी की भारत-नाटक-मंडली, काशी हरिश्चन्द्र नाटक-मंडली, विश्वविद्यालयों की नाटक मंडलियाँ प्रसिद्ध हैं। कहीं-कहीं दुर्गापूजा के अवसर पर नाटक खेलने की मंडलियाँ भी बनती-बिगड़ती गयीं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन व्यवसायी एवं अव्यवसायी मंडलियों ने रंगमंच में पर्याप्त नवीनता और आधुनिकता का समावेश किया। यूरोपीय रंगमंच का प्रभाव उन पर स्पष्ट होता ही गया।

बंगाल में श्री द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा शिशिर भादुरी ने रंगमंच को नयी चेतना दी। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों ने एक साहित्यिक गरिमा दी, तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय पवित्रता। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यह स्पष्ट देखा कि पाश्चात्य पटों और दृश्यों के अतिशय उपयोग से भारतीय नाटकों की आत्मा ही कलुषित हो उठा है। अतएव उन्होंने शांति-निकेतन में घर, बस्ती, झोपड़ी आदि की यथार्थ आकृतियों के स्थान पर उनके प्रतीकों के द्वारा वैसा दृश्य-बिम्ब उपस्थित करना शुरू किया। गगनेन्द्रनाथ टैगोर और डा० नन्दलाल बोस की सहायता से रवीन्द्रनाथ ने विचित्रा के रंगमंच से 'डाकघर' का जो नाटक प्रस्तुत किया तो एनि बेसेंट ने देखकर कहा—रूस में जो कुछ देखा था उन सबको मात कर गया। रवीन्द्र की रंगमंचीय कला यात्रा और नाटक का समन्वित प्रभाव उपस्थित करती है, जो मूलतः भारतीय है और इस कारण अत्यन्त सांकेतिक भी। रवीन्द्र ने जावा के रंगमंच से भी कुछ उपादान ग्रहण किये। अभिनेता के वस्त्र, आभूषण, साज-सज्जा, शिरोभूषण आदि जावा-रंगमंच के प्रमाण हैं।

हिन्दी-रंगमंच पर इनका प्रभाव अबतक स्पष्टतः दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु पृथ्वीराज कपूर द्वारा जिस नाट्य-कला और रंगमंच की परिकल्पना की जा रही है, उस पर चित्रपट के प्रभाव के साथ-साथ भारतीय रंगमंचीय परम्परा का भी कुछ प्रभाव अवश्य है। पृथ्वीराज कपूर की नाट्य-मंडली अभी वैयक्तिक निधि है। पर उसे हम रंगमंच की दृष्टि से प्रतिनिधि भी मान सकते हैं।

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी निबन्ध साहित्य : एक दृष्टि

वाङ्मय अभिव्यक्त होता है तो पद्य में अथवा गद्य में। पद्य में पद अर्थात् चरणों का नर्तन है, तो गद्य में गद् अर्थात् बोल-चाल की भाषा, लोक-कंठ का संगीत। पद्य अथवा कविता भाव-प्रधान रचना है, गद्य वस्तु-प्रधान, विचार-प्रधान। आज का युग विज्ञान का युग है, धर्म और विश्वास का नहीं; ज्ञान का युग है, भाव और नीति का नहीं। मध्ययुगीन सारी संस्थाएँ, जो विश्वास पर टिकी थीं, टूट चुकी हैं। सहज-बुद्धि ने विश्वास पर विजय पा ली है। स्वयं ईश्वर आज नृत्तत्व और समाजशास्त्र के अनुसंधान का विषय है। डारविन और लमार्क के जीवशास्त्री भौतिकवादी विकास, पैवलाव के प्रयोग, वाटसन के व्यवहारवादी मनोविज्ञान, कोहलर के गेस्टाल्ट मनोविज्ञान, फ्रायड के यौनविज्ञान और रदर फोर्ड, जेम्स जीन्स, आइन्सटाइन के भौतिक-शास्त्र के कारण तथा बहुसंख्यक मशीनों, वाहक-संवाहक यानों-यन्त्रों के कारण न केवल भौगोलिक सीमाएँ टूट चुकी हैं, किन्तु स्वयं व्यक्ति आज मात्र वैयक्तिक, मात्र पारिवारिक, एकदेशीय नहीं रह सका है; वह विस्तृत हो उठा है। विरोधी गुरुत्वाकर्षणों के बीच छटपटाता-सा व्यक्ति अब साधक हो तो कैसे, भक्त हो तो कैसे? युग माइकेल एंजेलो और रफैल का नहीं, रविवर्मा और तानसेन का नहीं, पिकासो और रेकार्डो का है—साधना का नहीं, प्रयोग का है। सत्तानिष्ठा और स्वेच्छा-चारिता इस युग में अधःपतित होती हैं, लोकतंत्रात्मकता अधिष्ठित होती है। जभी तो हिटलर और मुसोलिनी का पतन हुआ, पर स्तालिन, माओ और गाँधी की प्रतिष्ठा हुई। युग गहन गांभीर्य नहीं चाहता, व्यापक परिचयात्मकता चाहता है। शॉ और राहुल, वेल्स और ज्वायस अपने वैविध्य, व्यष्टिवाद और अनन्त प्रसार के लिए ही लोक-विश्रुत हो सके हैं। फलस्वरूप मनुष्य का जितना ज्ञानात्मक विकास हो सका है, उतना भावोत्कर्ष नहीं हो सका है। प्रोफेसर मैकमरे के शब्दों में—"ऐज़ ए रिज़ल्ट वी आर इंटेलेक्चुअली सिविलाइज्ड ऐंड इमोशनली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रिमिटिव ऐंड वी हैव रीच्ड ए पोआयंट ऐट : ह्विच दि डेवलपमेंट ऑफ़ नॉलेज थ्रेटेन्स टु डेस्ट्रॉय अस।.........मैन हैज़ ए पोष्ट-ग्रैजुएट मांइंड ऐंड किंडर-गार्टेन सोल।" ऐसी परिस्थिति में पद्य का उत्स, काव्य का मूल स्रोत सूख ही जाय तो आश्चर्य नहीं। हाली ने गलत नहीं कहा था,

"शायरी मर चुकी अब जिन्दा न होगी यारो।
याद कर करके उसे जी न कुढ़ाना हरगिज।"

जभी नाटक या रूपक नामक काव्य की श्रेष्ठ विद्या (काव्येषु नाटकं रम्यम्) से भी पद्यों का निष्कासन हुआ और अब तो वह गद्य के क्षेत्र की ही वस्तु करार दिया जाता है। फिर आज की कविता भी गद्य के निकट पहुँच गयी है;—स्वच्छन्द छन्द या मुक्त वृत्त के कारण तथा विचारों (न कि भावों), सिद्धान्तों के गुम्फन के कारण। ऐसा युग यदि 'गद्य-युग' कहलाये, तो आश्चर्य ही क्या! जीवन भी अब महाकाव्य नहीं, काव्य नहीं, गद्य है—रेखा-चित्र कह लीजिए उसे। सामूहिक जीवन में वह उदात्तता, विराट्ता अथवा दिव्य उत्कर्ष कहाँ! वह विस्तृत आयु भी नहीं। देश और काल को जीत लेने वाले इस वैज्ञानिक युग में अभावों ने सहस्र-बाहु होकर व्यक्ति को दबोच लिया है; वह छटपटा रहा है, जैसे वामन विराट् चरणों के नीचे बली हो। शायद वह भस्मासुर की तरह ध्वस्त भी हो।

सो यह गद्य-युग स्वाभाविक, नैसर्गिक और सार्थक है। गद्य ने अपनी सार्थकता और उपयुक्तता भी प्रमाणित कर दी है। विचारों का जैसा वाहक गद्य हो सकता है, पद्य नहीं। गद्य की कुछ अपनी विशेषता है और इन सारी विशेषताओं के साथ वह कहीं यदि प्रतिष्ठित होता है, तो निबंध में। गद्य में नाटक, उपन्यास, कहानी आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ होती हैं, पर गद्य की कसौटी निबंध है; क्योंकि वहीं वह अपने निजी सशक्त रूप में दिखाई पड़ता है। उपन्यास, कहानी आदि में गद्य एक माध्यम है। उसके सहारे चरित्र या घटनाएँ ही सामने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आती हैं। सारी कथात्मक कृतियों में जीवन के कार्य-व्यापारों की अभिव्यक्ति होती है; उनमें घटनाओं का प्रवाह ही मुख्य होता है। गद्य अपनी कसावट, अर्थ-संपत्ति, वैज्ञानिक विश्लेषण, तार्किक भंगिमा और विचार-शृंखला के साथ यदि प्रस्फुट होता है तो कथात्मक 'सरस' भूमि में नहीं, निबंधों की 'मरु' भूमि में।

निबन्ध विचार-प्रधान रचना है। यह बात नहीं कि उसमें अनुभूति अथवा रागात्मक तत्त्वों का एकान्त अभाव रहता हो। कभी-कभी अथवा कहीं-कहीं इनका भी ललित उपयोग होता है; पर विचार का एकांत लोप कभी नहीं ही होता। विचार कभी तो विषयनिष्ठ अथवा बहिर्मुख होकर विश्लेषण में प्रवृत्त होता है और विषय-प्रधान निबंध प्रस्तुत करता है, तो कभी अन्तर्मुख होकर आत्मनिष्ठ अथवा व्यक्ति-प्रधान निबन्ध भी प्रस्तुत करता है। विषयनिष्ठ निबन्धों में सौष्ठव, सजीवता, सम्बद्धता और विश्लेषणात्मकता की प्रधानता होती है तो व्यक्ति-प्रधान निबन्धों में कल्पना, अनुभूति और कलात्मकता की। एक में बुद्धि-पक्ष प्रबल हो, तो दूसरे में हृदय-पक्ष। रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर है। विषय-निष्ठ निबंधों के विचारों में तार्किक, वैज्ञानिक संगठन और बन्धन है, तो व्यक्तिनिष्ठ निबंधों में निर्बंध व्योमविहार की स्वतन्त्रता है, बशर्ते विषयान्तरों के अन्त में उड़ान मार कर 'ट्रू टु दि किंड्रेड पोआइंट्स आफ हेवेन ऐंड होम' के अनुरूप आप विषय पर लौट आयें और इस प्रकार समग्रता की दृष्टि से अनेक भावों-प्रभावों की एक जटिल किन्तु ललित अन्विति पाठक के मन-प्राणों पर छोड़ जायँ। इस प्रकार रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से एक को हम परिबन्ध निबंध कहें और दूसरे को निर्बंध निबंध। अंग्रेजी के 'एसे' की उद्भावना यूरोपीय साहित्य के निबंधों के जनक, फ्रांस के मानटेन ने की और उसने 'एसे' से तात्पर्य 'प्रयास' का लिया तथा अपने उन 'प्रयासों' या निबंधों (एसेज़) में आत्माभिव्यंजना ही की, वस्तु-विवेचना नहीं। अंग्रेजी साहित्य में इस प्रकार के आत्मनिष्ठ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निबंधों की बाढ़-सी आ गयी; जिसके फलस्वरूप डा० जानसन ने 'एसे' की परिभाषा 'ए लूज़ सैली ऑफ दि माइंड' 'एन इर्रेगुलर अनडाइजेस्टेड पीस, नॉट रेगुलर, ऑडरली इन परफॉर्मेन्स।' असंगठित, अपूर्ण, अव्यवस्थित; अपरिपक्व रचना, शिथिल मन की ढीली-ढाली अभिव्यक्ति कह कर दी। इन निर्बंध निबंधों की एक स्वतंत्र साहित्य-शाखा भी हो गयी और उसके लिए एक मानदंड भी तैयार हुआ और यह बतलाया जाने लगा कि निबंध में निबंध-लेखक अपने आपको अधिक प्रकट करता है, जिस विषय या वस्तु पर लिख रहा है, उसे कम। इसलिए वह किसी भी विषय पर लिख सकता है, क्योंकि विषय कोई साध्य नहीं, विवेच्य नहीं; वह तो साधन या भावों-विचारों-उद्गारों के बँधान के लिए एक हेतु. एक बहाना मात्र है। इस प्रकार के निबंधों में निबंध-लेखक की आत्मा झलक उठती है, उसके हृदय के स्पंदन सुनाई पड़ते हैं, उसकी श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया, राग-विराग, गुण-दोष प्रत्यक्ष हो उठते हैं। इसी कारण ऐसे निबंध को विद्वानों ने दिवा-स्वप्न-सा कहा है, ऐसी मानसिक अवस्था की उपज बतलाया है, जिसमें हम खुद अपने आप से बातचीत करते, आप ही आप हँसते-गाते-रोते हैं। (दि एसे इज़ दि रेवरी, दि फ्रेम ऑफ माइंड इन व्हिच ए मैन सेज़ इन दि वर्ड्स आफ दि ओल्ड सौंग" "से आई टु माई-सेल्फ, से आई।"—ए० सी० वेन्सन)। इस दृष्टि से निर्बंध निबंध गद्य में लिखी मुक्तक कविता है। हिन्दी में ऐसे निर्बंध निबंध पर्याप्त लिखे गये और इन्हीं की प्रशाखा में 'गद्य-काव्यों' के तथा 'रेखा-चित्रों' के भी सुमन खिले।

इसका मतलब यह नहीं कि मात्र निर्बंध निबंध ही कलित कला की काव्य-कोटि में आते हैं क्योंकि वास्तविक लालित्य उन्हीं में है। परिबंध-निबंधों में भी अपनी माधुरी है; चित्तोल्लासी ऊर्जस्विता है। निर्बंध निबंध कालिदास के काव्य की तरह, अजंता की कला की तरह, सूर के तन्मय संगीत की तरह सुन्दरं की अर्चना हैं, तो परिबंध निबंध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भास के नाटकों की तरह, भिलसा की कला की तरह, तुलसी के विराट् तत्त्व-चिंतन की तरह सत्यं की उपासना। (और शिवं अर्चना हो या उपासना, शिवं तो निसर्गतः दोनों में समान भाव से पूजित है।) एक में वन्य सौन्दर्य हो, तो दूसरे में गृह-ललनाओं की कान्ति। एक में उन्मुक्त प्रवाह हो तो दूसरे में आर्जव और गरिमा। एक गंगा है, दूसरा हिमालय। इस दृष्टि से प्रो० कन्हैयालाल सहल, एम० ए० की मान्यताएँ कि सच्चे निबंध निर्बंध निबंध ही हैं, मुझे मान्य नहीं। ❀ शुक्ल जी ने तो 'चिंतामणि' के गहन (गरिष्ठ भी कह लें) निबंधों को भी निबंध ही कहा—प्रबंध या लेख या थीसिस नहीं। ⁑

निबंध जैसा भी हो,—विषयनिष्ठ हो अथवा आत्मनिष्ठ,—काव्यत्व अथवा रसात्मकता (रमणीयता) उसकी गद्य-रचना होने के कारण अथवा विषयनिष्ठ होने के ही कारण लुप्त नहीं होती। कालरिज ने कहा था "दि अपोज़िट ऑफ पोएट्री इज़ नॉट प्रोज़, बट सायंस; दि अपोज़िट ऑफ़ प्रोज़ इज़ नॉट पोएट्री बट वर्स" अर्थात् काव्य का उल्टा गद्य नहीं, विज्ञान है और गद्य का उल्टा काव्य नहीं, पद्य है। क्योंकि काव्य का लक्ष्य है भावों को प्रदीप्त करना, रस का उद्रेक कर आत्मानंद-भावयोग—की स्थिति में पहुँचा देना और विज्ञान ही इसके विपरीत है क्योंकि वह रागहीन शब्दों में तथ्य का निरूपण करता है। पर गद्य का व्यवहार रागों, भावों के उद्बोधन और रस के उद्रेक के लिए होता है, हुआ है। अतः गद्य में काव्यात्मकता हो सकती है। निबन्ध विज्ञान की तरह—ज्योतिषशास्त्र, नक्षत्र-विज्ञान, बीजगणित, रसायनशास्त्र, आयुर्वेद आदि की तरह—रागहीन शब्दों में तथ्य-निरूपण वैसा नहीं करता जैसा संवेदनाओं को जाग्रत कर हमें भावमय बनाता

❀ देखिये समीक्षायण—"सच्चा निबन्ध किसे कहते हैं ?" पृष्ठ ११४–१६

⁑ देखिये चिंतामणि भाग १—"निवेदन"—बस, इतना ही निवेदन करके इस बात का निर्णय मैं विज्ञ पाठक पर छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इस दृष्टि से जो निबन्ध लक्ष्य-भ्रष्ट हैं, वे शास्त्र हो सकते हैं, विज्ञान हो सकते हैं, साहित्य नहीं।

निबन्ध लेखक को सामान्य भावनाओं का—दुःख और हर्ष, क्रोध और विषाद, उत्साह और हास्य का—स्वयं अनुभव करना पड़ता है; मनुष्यों के सहज राग-विरागों में स्पंदित होना पड़ता है। तभी उसके निबन्धों में वह संवेदनशीलता, द्रवणशीलता और प्रेषणीयता आयेगी जो हमें तदाकार, तन्मय कर सके। कवि चतुर्दिक् व्याप्त जीवन-रस का तटस्थ द्रष्टा मात्र नहीं, वह तो उसमें डुभ-चुभ डूबा-सा रहता है; तटस्थ द्रष्टा तो आलोचक है। पर निबन्ध लेखक न तो कवि की तरह पूर्णतः आप्लुत होता है और न आलोचक की तरह पूर्ण तटस्थ ही रहता है। वह तो "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" को चरितार्थ करता-सा जीवन में पूर्णतः पैठ कर भी पद्म-पत्र की तरह उतराता-सा रहता है। कवि जीवन के भव्य रूप का, उसके दिव्य, उदात्त और चिरंतन पक्ष का द्रष्टा है; निबन्धकार जीवन के दीप्त रूप का, उसके सामान्य, स्वाभाविक प्राकृतिक पक्ष का द्रष्टा है। इस प्रकार निबन्धकार कवि और आलोचक दोनों है, पर वह दोनों से कितना भिन्न है!

निबंध में विचार मुख्य है, आख्यायिका में वस्तु-विधान मुख्य है और कविता (गीति-काव्य भी) में अनुभूति या भाव मुख्य है। पर निबंध एक ओर एकतथ्यता, प्रभावान्विति और संक्षिप्ति के कारण आख्यायिका से समता रखता है, तो दूसरी ओर निजीपन, आत्माभिव्यंजन अथवा उन्मुक्त स्वच्छंद वैयक्तिकता के कारण तथा भावमयता और व्यापक सहानुभूति के कारण गीतिकाव्य के निकट आ जाता है। किन्तु निबंध, फिर भी, न तो आख्यायिका ही है और न गीतिकाव्य ही। कहानी में कथा को कुतूहल-तत्त्व का जैसा विनियोग होता है, घटनाओं की तीव्र गति और केन्द्र-विन्दु पर दृष्टि जैसी केन्द्रीभूत की जाती है, निबंध में वैसी नहीं। निबंध में गति की तीव्रता नहीं, शैथिल्य रहता है; वातावरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में कहानी की घटनाओं जैसा तनाव नहीं, खिंचाव नहीं, हल्की शांति रहती है। फिर गीति-काव्य की गेयता, रसमयता, निबंध में कहाँ? इस प्रकार निबंधकार कहानीकार और गीतिकार दोनों है, पर वह दोनों से कितना पृथक् है! निबंध-साहित्य के रूप-गुणों के लिए रॉवर्ट लींड की पंक्तियों में कितना सत्य है—"समटाइम्स इट इज़ नीयरली ए सर्मन, समटाइम्स इट इज़ नीयरली ए शॉर्ट स्टोरी। इट मे बी ए फ्रैगमेंट ऑफ़ औटोवायोग्राफी, ऑर ए पीस ऑफ़ नॉनसेंस। इट में बी सेंटिनियश ऑर विटापरेटिव ऑर सेंटिमेंटल। इट मे डील विथ एनी सब्जेक्ट फ्रॉम दि डे ऑफ जजमेंट टु ए पेयर ऑफ़ सीज़र्स।"

इधर हाल के निबंधों में कुतूहल-तत्त्व (कथा-सूत्र) के जुट जाने से अनेक प्रकार की रचनाएँ देखने में आ रही हैं;—शब्द-चित्र, भाव-चित्र, वस्तु-चित्र, रेखा-चित्र, रिपोर्ताज आदि। दूसरी ओर निबंधों में कलात्मकता (कविता का तत्त्व) जोड़ कर गद्य-काव्य की रचना भी हो रही है। और अपनी पूरी विश्लेषणात्मकता, तार्किकता - बुद्धि-पक्ष कह लें—के साथ तो वह आलोचना के क्षेत्र में तानाशाह है ही। इस प्रकार निबंधों के क्षेत्र में विपुल विस्तार आ गया है और दूसरे के साम्राज्यों पर विजय प्राप्त कर अपने उपनिवेश बसाने की शक्ति भी आ गयी है।

हिन्दी-निबंधों का प्रारंभ हुआ तो उसका नाम-मात्र का भी सम्बन्ध प्राचीन साहित्यिक परम्परा से न था। निर्बंध निबंधों के लिए तो यह बात और भी दृढ़ता के साथ कही जा सकती है। हिंदी-उपन्यासों के लिए तो, कम से कम कसम खाने भर को, सुबंधु, दण्डी, वाण की परम्परा थी, यद्यपि हिन्दी-उपन्यासों का सीधा लगाव इनसे नहीं, प्रत्युत पश्चिम के यूरोपीय साहित्य और पूरब के बंगला-साहित्य से है। किन्तु निबंधों के लिए कोई परम्परा, कोई प्रणाली, कोई 'मॉडेल' हिन्दी के प्रथम निबंधकार के सामने भारतीय वाङ्मय का न था; यदि था तो टीका, टिप्पणी, कारिका, वृत्ति, भाष्य, वार्तिक, फक्किका, वचनिका आदि का ही था जो निबंधों से न तो शरीर में और न आत्मा में समता रखते हैं। किंतु आश्चर्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की बात यह है कि जहाँ हिन्दी-उपन्यासों को अपने दीर्घ शैशवकाल में लम्बी अवधि तक घुटनों के बल चलना पड़ा था, वहाँ हिंदी-निबंधों ने जनमते ही शुकदेव मुनि की तरह ज्ञान बूँकना शुरू किया अथवा हनुमान की तरह आकाश के सूरज तक को निगल जाने की आत्मशक्ति दिखा दी। और यदि ऐसे अभूतपूर्व 'होनहार विरवान' ने अजातशत्रु होकर अपना समृद्ध साहित्य-साम्राज्य निर्मित कर लिया है,—ऐसा साहित्य जो अन्य भाषाओं के निबंध-साहित्य के बीच भी शोभनीय स्थान प्राप्त कर सकेगा —तो कोई आश्चर्य नहीं।

हिंदी-निबंधों का प्रारंभ भारतेंदु और भारतेंदु-युग से हुआ—उस युग से जब सत्ता में केन्द्रापगामी प्रवृत्तियाँ दीख पड़ने लगी थीं; सामंती शक्तियाँ और संस्थायें विघटित हो रही थीं; समष्टि से पृथक् अपनी हस्ती के लिए व्यष्टि उद्‌बुद्ध हो चला था; परिचयात्मक ज्ञान-विज्ञान पाकर समाज जिज्ञासु बना बैठा था और लोकतंत्रात्मक भावनाएँ उसके हृदय में मचल रही थीं, जब कि चतुर्दिक् व्याप्त सत्ताधारियों की रूढ़ियों की रस्सी में जकड़ा उसका दम घूँट भी रहा था। ऐसे समय का साहित्यकार शीघ्र ही सीधे, स्पष्ट और प्रभविष्णु ढंग से अपनी संवेदनाओं को, घुटन को पाठकों तक पहुँचा देना चाहेगा और उसके लिए निबंध अपने लचीले शरीर, आकर्षक-चटपटे हाव-भाव और विचारोत्तेजक, प्राणोन्मेषक आत्मा के कारण सबसे सुन्दर-शोभन माध्यम समझा गया होगा। इस कारण भारतेंदु, राधाकृष्ण दास, दयानन्द, बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट, उपाध्याय बद्रीनारायण प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी आदि ने निबंधों के कुछ सर्वोत्कृष्ट नमूने पेश किये। तभी यह सत्य ठहरता है कि "भारतेन्दु-काल का सबसे विकसित और पुष्ट साहित्यिक रूप निबंध का है।...... ......यदि कोई भारतेन्दु-युग के निबंध साहित्य को नहीं जानता तो वह भारतेन्दु-युग को भी नहीं जानता।" (१) भारतेन्दु जी अपनी जिंदादिली के

(१) संस्कृति और साहित्य : डा० रामविलास शर्मा, पृष्ठ २८४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए तो लोक-विश्रुत थे; उनकी जिंदादिली उनके निवंधों में भी दीख पड़ती है। मस्ती और जिंदादिली, विनोद और आत्मीयता आपको प्रतापनारायण मिश्र के निवंधों में मिलेगी। विचारात्मकता और स्वच्छन्दता का मणि-कांचन-संयोग देखना हो तो बालकृष्ण भट्ट के निवंध पढ़िये। भाषा की प्रांजलता और शालीनता देखनी हो तो बालमुकुन्द गुप्त के निबंध देखिये। कथा के कुतूहल-तत्त्व से संयुक्त निवंध केशव प्रसाद सिंह के "आपत्तियों का पहाड़—एक स्वप्न' है, जो 'सितारेहिंद' के 'राजा भोज का सपना' और 'भारतेन्दु' के 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' से निवध की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है।

'सरस्वती' के प्रकाशन से निवंधों का विकास द्रुत गति से होने लगा। कुछ नये प्रयोग भी होने लगे—जैसे कथा-तत्त्व का मिश्रण, आत्मकथा का आश्रय, चरित्रांकण का योग, संभाषण का प्रयोग, उपदेश-वृत्ति का नियोजन, वक्तृता के गुणों का मिश्रण, स्वगत-भाषण अथवा आत्म-चिंतन का प्रदर्शन तथा काव्यात्मक भावों-उपादानों-शैलियां एवं गीतिमयता का नियोजन। कथा-तत्त्व के मिश्रण से "आपत्तियों का पहाड़—एक स्वप्न" की तरह के निबंध लिखे जाने लगे। आत्मकथा का आश्रय लेकर वेंकटेशनारायण तिवारी ने, 'एक अशरफी की आत्मकहानी' नामक निबंध लिखा। लक्ष्मीधर बाजपेयी और लल्ली प्रसाद पांडेय ने भी ऐसे निवंध लिखे। चतुर्भुज औदीच्च का "कवित्व" नामक निवंध चरित्रांकण-निवंध है। "भुजंग भूषण भट्टाचार्य" (द्विवेदी जी) का निबंध "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" संभाषण का आनन्द देता है। पूर्णसिंह के "सच्ची वीरता" निबंध में उपदेश-वृत्ति स्पष्ट है। वक्तृता के गुण तो आप प्रायः सभी के निबंधों में कुछ न कुछ पा जायँगे। पद्मसिंह शर्मा के निबंधों में स्वगत-भाषण या आत्मचिंतन का प्रदर्शन मिलेगा। लक्ष्मण-गोविन्द आठले के निबंध 'वर्षा-विजय' में काव्यात्मक उपादान प्रचुर है और वह खण्ड काव्य-सा जँचता है।

रायकृष्ण दास की "साधना" तो गद्य में मुक्तक काव्य है, प्रगीति-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निबंध है। और यदि किसी एक ही व्यक्ति के निबंधों में ये सारे तत्त्व आपको चाहिए, तो द्विवेदी जी के निबंध देख लें। "गोपियों की भगवद्भक्ति", 'नल का दुस्तर दूत-कार्य', 'हंस-संदेश' आदि आख्यानात्मक निबंध हैं, 'पंडित बालकृष्ण भट्ट', 'राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', 'सर हेनरी काटन' आदि निबंध चरितचर्चा के हैं। 'साहित्य की महत्ता' एवं "कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता" में संभाषण, उपदेश-वृत्ति और वक्तृता के गुण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। स्वगत-भाषण अथवा आत्म-चिंतन का प्रदर्शन उनके अनेक निबंधों में है, उदाहरण-स्वरूप 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' और भट्ट जी के देहांत पर दिए हुए नोट में जो भावावेशपूर्ण हृदयोद्गार प्रकट हुए हैं, उनमें आत्म-चिंतन के ही तत्व हैं। भावात्मक और चिंतनात्मक निबंधों के 'हाय वाल्मीकि', 'कविता', 'हंस-संदेश' आदि अनेकानेक उदाहरण हैं। इनके अलावा द्विवेदी जी ने गवेषणात्मक वैज्ञानिक ढंग के निबंधों का जो प्रारंभ किया, वे विषयनिष्ठ परिबंध निबंधों की शृंखला में अभूतपूर्व देन हैं। द्विवेदी जी के आलोचनात्मक निबंधों में आदेशपूर्ण, ओजपूर्ण, भावपूर्ण तीनों शैलियों की त्रिवेणी तो है ही, साथ-साथ जो मार्मिक व्यंग्य और मीठे विनोद हैं, उनके कारण निबंधों में मणि-कांचन-संयोग हो गया है। यह बात भी ठीक है कि द्विवेदी जी के व्यंग्य तीखे और करारे होते थे—खासकर साहित्यिक निबंधों के व्यंग जहाँ द्विवेदी जी पूरी उग्रता के साथ परशुरामी फरसा का प्रहार करते पाये जाते हैं। किंतु, अन्य क्षेत्रों से संबंधित निबंधों में उनका हास्य शिष्ट, सरल और रंजक होता था; यहाँ शैली में उग्रता नहीं, मसखरापन है। उदाहरण-स्वरूप 'म्युनिसिपैलिटियों के कारनामे' शीर्षक निबंध में जो हास्य है, वह सरल और विनोदपूर्ण है। भाषा-साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग कर्मयोग का युग था, वह क्षत्रिय-युग था। अतः साहित्यिक निबंधों (जिन निबंधों का उद्देश्य साहित्य और भाषा के विभिन्न क्षेत्रों में परिष्कार, परिमार्जन और संस्कार था) में यदि ब्राह्मण द्विवेदी चाणक्य की तरह कर्मठ क्षत्रित्व ग्रहण करते, परशुराम की तरह अशुद्धियों,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनाचारों के सहस्राजुर्न के विरुद्ध फरसा उठाते और द्रोणाचार्य की तरह क्षात्रवृत्ति धारण कर सैनिक-धर्मी होते हैं, तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। किसी भी तप, साधना, यज्ञ के लिए वैराग्य और अभ्यास आवश्यक है। वैराग्य विध्वंसक है और अभ्यास विधायक। (१) और द्विवेदी जी की उग्रता 'खेत से घास उखाड़ कर फेंकने' जैसी क्रिया थी, ताकि 'उसमें बीज बोने' का विधायक काम हो सके। द्विवेदी जी की उग्रता हिन्दी भाषा-साहित्य को शिष्टता, शालीनता, शुद्धता सिखा सकी, यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

लेकिन भारतेंदु-युग में निर्बंध निबंधों की जो स्वच्छन्द केलि थी, वह द्विवेदी-युग के इतिवृत्तात्मक अथवा परिबंध निबंधों के बीच बच न सकी। द्विवेदी-युग के निबंध अधिक शिष्ट, अधिक संयमित, अधिक उपदेशात्मक, नीतिवादी और शास्त्रीय थे। बल शुद्धि, संस्कार, नीतिमत्ता पर अधिक था। इसी कारण भारतेंदु-युग निबंधों के लिए 'सुन्दरं' की वन्दना है, तो द्विवेदी-युग 'शिवं' की उपासना। वहाँ हृदय अधिक था, यहाँ मस्तिष्क अधिक। वहाँ रंजन अधिक था, यहाँ रक्षण अधिक। वहाँ मस्ती थी, यहाँ चुस्ती। भारतेंदु-युग अपनी कमनीयता, कांति और केलि में कामिनी हो, तो द्विवेदी-युग अपने सौम्य, शुभ्र, रूक्ष रूप के कारण पुरुष है। और भाषा-साहित्य के उपासक के समक्ष आधुनिक काल के 'पितरौ पार्वती परमेश्वरौ' की तरह इन दोनों की सम्पृक्त अर्द्धनारीश्वर मूर्त्ति कितनी भव्य, विराट् और मधुर-मोहक है।

उसके बाद के युग के निबंधकारों में तीन-चार ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न निबंधकार हुए, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। वे हैं पं० माधव प्रसाद मिश्र, पं० गोविन्द नारायण मिश्र, पं० चन्द्रधर गुलेरी तथा अध्यापक पूर्णसिंह। पं० माधव प्रसाद मिश्र अपनी ओजस्विता और 'प्रगल्भ शैली' (२) के

(१) गीता-प्रवचन : विनोबा, पृष्ठ ८९
(२) हिंदी-साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ५११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए अप्रतिम हैं। 'उनके निबंध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा-शैली पर चलते थे। उनमें सुन्दर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चली चलती थी।' (१) पं० गोविन्द नारायण मिश्र के निबंध 'वाण और दंडी के गद्य-काव्य' का आनन्द देते हैं। 'पंडित गोविन्द नारायण मिश्र के गद्य को समास-अनुप्रास में गूँथे शब्द-गुच्छों का एक अटाला समझिये। जहाँ वे कुछ विचार उपस्थित करते हैं, वहाँ भी पदच्छटा ही ऊपर दिखाई पड़ती है।' (२) पं० चन्द्रधर गुलेरी अपनी 'अनूठी लेख-शैली,' 'गंभीर और पांडित्य-पूर्ण हास' के लिए संख्या में बहुत कम निबंध लिख कर उसी तरह अमर हो गये, जैसे संख्या में बहुत कम कहानी लिख कर। 'यह वेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थ-गर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं।' (३) भावात्मक निबंधों के लिए अध्यापक पूर्णसिंह भी बेजोड़ हैं। भावों का अपूर्व तरल, मार्मिक मिश्रण विचारों के साथ पूर्णसिंह ने अपने निबंधों में किया है और उसमें उनका द्रवणशील भावुक हृदय पूरी तरह लिपटा चला आया है। पं० माधव प्रसाद मिश्र का 'सब मिट्टी हो गया' अपनी मार्मिकता के कारण सरस निबंध हो सका है, तो पं० गोविन्द नारायण मिश्र का 'कवि और चित्रकार' अपनी काव्यात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। पं० चन्द्रधर गुलेरी के निबंध 'कछुआ-धरम', 'मारेसि मोहिं कुठाऊँ' तथा "संगीत" में उनका शिष्ट, गंभीर, संयत व्यंग्य तथा निर्बंध विचार-धारा दर्शनीय है। सरदार पूर्णसिंह की भावुकता, भावों की चित्र-विधायिनी प्रतिभा, मार्मिक द्रवणशीलता और शैली की लाक्षणिकता उनके 'आचरण की सभ्यता,' 'मजदूरी और प्रेम' आदि निबंधों में परिलक्षित होती है। इस प्रकार इन्होंने निर्बंध निबंधों की प्रगति में योगदान किया।

---

(१) हिन्दी-साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ ५१२
(२) ,, : ,, पृष्ठ ५१७
(३) ,, : ,, पृष्ठ ५१६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करीब-करीब इसी युग के आस-पास बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबंधु, श्री गुलाबराय आदि के पांडित्यपूर्ण, शास्त्रीय (एकेडेमिक) निबंध निर्मित हुए, जिनमें कारयित्री प्रतिभा उतनी नहीं, जितनी भावयित्री प्रतिभा परिलक्षित होती है। ये निबंध साहित्य, समाज, कला आदि के मूल्यों का उद्योतन करते, उनकी शास्त्रीय-विवेचना प्रस्तुत करते हैं। प्रायः सम-सामयिक पं० पद्मसिंह शर्मा और पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी क्रमशः अपनी भावुक जीवनियों-संस्मरणों और हास्य-विनोदपूर्ण लेखों के लिए प्रसिद्ध हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'दो-दो बातें' में ऊहात्मकता और शैली-पक्ष का आग्रह इतना जबरदस्त है कि उसका चटपटापन भी किरकिरा हो जाता है और आयास-सिद्ध साज-सज्जा के बीच निबंध की आत्मा दम तोड़ती-सी जँचती है।

इसके बाद बंगला के चंद्रशेखर मुखोपाध्याय कृत 'उद्भ्रांत प्रेम' के अनुकरण पर भावात्मक गद्य लिखा जाने लगा, जिसमें 'धारा' और 'तरंग' शैलियों का योग था। उदाहरण-स्वरूप चतुरसेन शास्त्री का 'अंतस्तल' ऐसी ही रचना है। इनके साथ-साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिए भावात्मक गद्य भी चल पड़ा। इस शैली के लेखकों में गंगा प्रसाद पांडेय, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि मुख्य हैं।

इसी समय पं० रामचन्द्र शुक्ल के निबंध विद्वानों को आकृष्ट करने लगे। शुक्ल जी की तल-स्पर्शिनी प्रतिभा ने न केवल आलोचना के कृष्ण-पक्ष में शुक्ल-पक्ष का शुभ्र आलोक प्रसारित किया, किंतु निबन्धों के क्षेत्र में भी भाषा और भाव की जैसी कसावट, निबंध और परिबन्ध निबन्धों की जैसी सुखद संधिभूमि उपस्थित की, वह अपूर्व है। उनके निबन्धों में मस्तिष्क और हृदय तिल-तण्डुल न्याय से नहीं, नीर-क्षीर न्याय से सम्पृक्त हैं। वहाँ वैज्ञानिक विश्लेषण है, तो साथ-साथ रागात्मक स्पंदन भी। विचारों का यदि मंथन है, तो भावों का गुम्फन भी। और भाषा क्या विचार-गुरुत्व में, क्या भाव घनत्व में, क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथ्यनिरूपण-मूल्योद्घाटन की वैज्ञानिक व्याख्याओं में और क्या व्यंग-विनोद के छीटों में, सर्वत्र अपनी सरल, सहज, शक्तिमत्ता के साथ अनायास प्रयुक्त दिखाई पड़ती है। वास्तव में 'भावयोग' के 'भावयोगी' 'शुक्ल' जी ने निबंधों के क्षेत्र में भी अपना विशिष्ट 'स्थान' बना लिया है। चित्र जमा हुआ संगीत हो या नहीं, शुक्ल जी के निबंध भावों के घनीभूत पुञ्ज हैं, विचार मंथन के चौदह सहस्र-लक्ष-कोटि (कुछ भी कह लें) रत्न हैं।

फिर साहित्य के इतिहास में अनेकानेक दार्शनिक वादों, वैज्ञानिक सिद्धान्तों, राजनैतिक मान्यताओं, मनोवैज्ञानिक तथ्यों और साहित्यिक प्रणालियों की धूम मची। रहस्यवाद, आत्मवाद, सर्वात्मवाद तथा रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द आदि के सिद्धान्त धार्मिक-दार्शनिक क्षेत्रों के साथ-साथ साहित्य पर भी प्रभाव डालने लगे। क्वान्टम सिद्धान्त, सापेक्ष सिद्धान्त, विकासवाद, जीवशास्त्र के नये सिद्धान्त भी साहित्य को नयी दिशाओं की ओर मोड़ने लगे। मार्क्सवाद, गाँधीवाद आदि का साहित्य पर विराट् प्रभाव आधुनिक काल में पड़ा। फ्रायड, एडलर और युंग के मनोविश्लेषण, मायर्स के आत्म-प्रयोग आदि के कारण साहित्य को अभिनव सामग्रियाँ प्राप्त हुईं। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और वाल्टर ह्विटमैन की अतुकांत पदावली, ईट्स की प्रतीक-पद्धति और पलायन-वृत्ति, शॉ की आक्रामक शैली, जेम्स ज्वायस के 'यूलिसिस' का प्रकृतवाद और चित्रकला-मूर्त्तिकला के क्षेत्रों के क्यूबिज्म, सुररियलिज्म, फार्मेलिज्म आदि-अनादि इतने वाद-सिद्धान्त साहित्य में चल पड़े कि १६१५ से अब का हिन्दी-साहित्य अपनी विविधता-विचित्रता में जितना विशद है, नवीनता और परम्परा में भी उतना ही विद्रोही। ऐसे काल में जो निबंध-साहित्य निर्मित हुआ, वह अपने वैविध्य के कारण विस्मित कर देता है, तो विस्तार के कारण चकित भी। और उनमें से कुछ में जैसा रागात्मक स्पंदन मिलता है, वैसा इस युग के पहले के निबंधों में कल्पनातीत ही था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छायावादी निबंधकारों में 'प्रसाद' अपनी गहन दार्शनिकता, ऐतिहासिक अनुसंधानात्मकता के लिए विख्यात हैं, तो पंत अपनी उग्रता के लिए। महादेवी वर्मा अपनी कोमलता, मार्मिकता और मृदुल संवेदनशीलता के लिए 'शृंखला की कड़ियों' में प्रसिद्ध हैं। 'निराला' के निबंध ही नाम के अनुरूप नहीं।

निबंधों ने तभी 'लाघव' की ओर कदम बढ़ाना शुरू किया। पर लघु निबंध आकार में छोटे थे, भाव में तो वे 'नावक के तीर' ही थे। भावोच्छ्वास की अभिव्यक्ति में लिखे गये निबंधों में 'कथा' तत्व का मांसल और कभी-कभी अस्थि-पंजर-युक्त ˙ ˙˙ ढाँचा भी दे दिया जाता, जिनसे उच्छ्वास वायवीय होने के कारण उड़ जाने से, अप्रभविष्णु होने के दोष से बच जाते। रायकृष्ण दास, वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री के निबंध ऐसे ही भावात्मक निबंध हैं। डा० रघुवीरसिंह के निबंध 'शेष स्मृतियाँ' इनमें विशिष्ट स्थान रखते हैं।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी में रोचकता के साथ-साथ विद्वता की भी झलक है। सियारामशरण जी ने 'झूठ-सच' में निबंध निबंधों की सच्ची आत्मा अभिव्यक्त की है। जैनेन्द्र कुमार ने 'जड़ की बात', 'रामकथा', 'आप क्या करते हैं' आदि अनेक निबंध निबंधों की रचना की। पर उनकी दार्शनिकता कुछ चीख-चीख कर (सिनेमा हॉल में बच्चों की चीख की तरह) रसपरिपाक में विघ्न डाल देती है। सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, देवेन्द्र सत्यार्थी, भदन्त आनन्द कौशल्यायन, राहुल जी, भगवतशरण उपाध्याय, शिवपूजन सहाय, बेनीपुरी, जानकी बल्लभ शास्त्री, 'दिनकर', वासुदेव शरण अग्रवाल आदि ने भी निबंध-साहित्य की श्रीवृद्धि की है और प्रत्येक की कुछ कृतियाँ साहित्य की अमर निधियाँ रहेंगी, इनमें शक नहीं। आधुनिक निबन्धकारों में आ० नन्द दुलारे वाजपेयी, आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी अपनी तेजस्विता, चिंतन और निगूढ़तत्व-विवेचन के लिए अप्रतिम हैं। द्विवेदी जी, 'अशोक के फूल' में निबंध निबंधकार की श्रेष्ठ प्रतिमा का प्रदर्शन कर सके हैं, यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्विवाद है। डा० नगेन्द्र, डा० राम विलास शर्मा, डा० रामरतन भटनागर, डा० रांगेय राघव, श्री अज्ञेय, श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री शिवदान सिंह चौहान, श्री अमृतराय, श्रीराम शर्मा, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री प्रभाकर माचवे। श्री यशपाल, श्री नलिन-विलोचन शर्मा, श्री नवल-किशोर, डा० सत्येन्द्र, डा० सुधीन्द्र, श्रीमती शची रानी गुर्टू, श्रीपद्मसिंह शर्मा, 'कमलेश', श्री रामनाथ 'सुमन', डा० देवराज आदि तथा धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक अथवा सैद्धान्तिक निबन्धकारों में श्री राधाकृष्णन्, श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, डा० भगवानदास, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री सम्पूर्णानन्द, काका कालेलकर, संत विनोबा आदि अनेकानेक विभूतियाँ निबन्ध-साहित्य को प्राप्त हो रहे हैं और जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, संस्मरणों, आत्मचरितों, जीवनियों, रेखाचित्रों, रिपोर्ताजों आदि नये क्षेत्रों में प्रयोग भी हो रहे हैं जिनसे निबंध का कलेवर पुष्ट और विशाल बनता जा रहा है।

—:o:—

हिन्दी के गीत और गीति काव्य

मुक्तकों को उनकी गेयता और अगेयता की दृष्टि से दो भेदो में विभक्त किया जाता है और गेय को प्रगीत अथवा गीति-काव्य अथवा गीत की संज्ञा मिलती है और अगेय को मुक्तक की। किन्तु गेयता का अर्थ स्वर-संगति अथवा राग-रागिनी में बँध जाने की क्षमता मात्र नहीं। यदि गेयता का यही अर्थ हो तो बिहारी के नीति-परक दोहों को देश या वागेश्वरी में बाँध गाया जा सकता है। गाये जाने लायक सभी पदों या मुक्तकों को प्रगीत या गीति-काव्य कहना कुछ वैसा ही है जैसे जटाधारी सभी मनुष्यों को साधु कहना। फिर भी यह कहना कि प्रगीत या गीतिकाव्य में गीति तत्त्व, गीतिमयता अथवा सांगीतिकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहती है, चक्रक-दोष दूषित है। प्रगीत, गीति-काव्य और गीत सुर अथवा स्वर से अधिक सम्बद्ध है और भावना की कोमलता, सुकुमारता से अनुप्राणित है। किन्तु अन्य मुक्तक वैसे नहीं।

सुर अथवा स्वर क्या है? संगीत से इसका क्या सम्बन्ध है? गणित शास्त्री कहेगा कि नियमित और निश्चित आघातों के कारण वायु का जो प्रकम्प नाद रूप में स्फुट होता है, वही संगीत का प्राण है। दार्शनिक और धर्मशास्त्री उसे अनहद, शिव के डमरू से निर्गत, शब्द ब्रह्म आदि बतला कर उसे और भी जटिल बतला देगा। कोई कहेगा वाणी पहले फूटी और आकाश प्रथम तत्त्व है जिसका गुण ही शब्द है, तो दूसरा गीत को ही प्रथम ध्वनि प्रमाणित करेगा। इस भावमय दर्शन में चौंधियाने की अपेक्षा हम इतना भर मान लें कि वाणी और सुर एक दूसरे के पूरक हैं और हमारे विचारों-भावों की अभिव्यक्ति करते हैं। वाणी प्रधानतः विचारों को प्रकट करती है और सुर भावों को। जहाँ वाणी और सुर घुलमिल जाते हैं, वहाँ भी शब्द (वाणी) विचारों के वाहक हैं तो सुर विचारों के अन्तराल में प्राणधार की तरह भावों की जो सूक्ष्म अन्तर्धारा है, उसका संवाहक है। यह सुर ही संगीत का आदिम सूक्ष्म रूप है।

बल, स्वराघात, लय, तुक आदि रूपों में सुर की ही सहायता से प्राचीन काल से ही भाषा में उदात्तता और गूँज की वशीकरण-शक्ति का प्रयोग होता आया है और इस उदात्तीकृत भाषा में एक विस्मयादिबोधकता, एक तृप्ति व्यवहारकर्त्ता की दृष्टि से और एक सम्मोहन ग्राहक की दृष्टि से रहे हैं। यही कारण है कि ऐसा अनुमान लगाने के लिए हेतु मिल जाते हैं कि इसी उदात्तीकृत्त भाषा से बाद में संगीत, नृत्य, काव्यादि का विकास हुआ।

प्रारंभ में संगीत और काव्य प्रायः एक से थे क्योंकि दोनों कंठ से आश्रित थे। किन्तु बाद में चलकर संगीत सुर-प्रधान हुआ और काव्य वाणी प्रधान। गीत, संगीत और गीति-काव्य में सुर की प्रधानता अब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी है और अन्य प्रकार के मुक्तकों में वाणी की प्रधानता है। अब तो संगीत का अपना अलग साम्राज्य है। एक ओर, तो काव्य का अपना साम्राज्य है दूसरी ओर, इन दो अतियों के बीच गीत और गीति-काव्य की 'मज्झिम प्रतिपदा' है।

यहाँ ध्यान में यह भी रखना होगा कि वह गीत जिसे कोई राग-रागिनी में गा रहा है, संगीत शास्त्र की दृष्टि से आलोच्य है और वह गीत जिसे कोई पढ़ रहा है, साहित्य शास्त्र की दृष्टि से आलोच्य है। पहले के मूल्यांकन में सुर और तान प्रधान है, गौण है शब्दार्थ; दूसरे के मूल्यांकन में शब्दार्थ प्रधान है, गौण है लय, छन्द आदि। दोनों का लक्ष्य एक है—भाव-प्रतिमा की निर्मिति, रसोद्रेक। किन्तु दोनों के साधन अलग हैं, मार्ग अलग हैं गो कि वस्तु अर्थात् पद भी एक हों। इन गेय गीतों में कुछ तत्त्व है जिन्हें हम संगीत (हार्मनी), विन्यास, गति या लय, उतार-चढ़ाव अथवा आघात, स्वर की तद्रूपता और अन्त में इन सब तत्त्वों की समन्वित माधुरी कह सकते हैं। पाठ्य गीतों में भी रचना-प्रक्रिया भाव विधान और शैली विधान में इन तत्त्वों का सूक्ष्म स्पंदन आवश्यक है।

गीतों में व्यक्ति का सहज स्वच्छ हृदय दलित द्राक्षाओं की भाँति निचुड़ आता है। जागतिक बन्धनों से निर्मुक्त मानव जब आत्म केन्द्रित कुछ ऐसा हो आता है कि उसकी दृष्टि में समष्टि मानव के, अतः सार्वभौम चिरंतन प्रकृत मानव के, मनोराग स्पंदित होने लगते हैं, तब विषाद अथवा आह्लाद का संयमित प्रवाह गीतों में फूट चलता है। भावों की दृष्टि से, विभावों की दृष्टि से, शैली की दृष्टि से गीत स्वच्छन्द हैं, वन्य कंठों में पले हैं। जहाँ यह सहज सुकुमारता नहीं, निर्बंध स्वच्छंदता नहीं, निविड़ आत्म रस नहीं, तन्मयकारी भावमयता नहीं, वहाँ गीत की आत्मा नहीं, चाहे गीत की उस लाश को दरबारी, भैरवी और विहाग से क्यों न मंत्राभिषिक्त करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरे कहने का अर्थ यह है कि गीतों में भावों की सघनता है, विस्तार नहीं, अनुभूति की एकान्विति है, समन्विति नहीं, कल्पना की मनोहारिता है, विविधता नहीं, तरलता है, बौद्धिकता नहीं। शब्द-विधान और शैली में भी सुकुमारता, कोमलता और मसृणता है, निगूढ़ता, दार्शनिकता, विराटता नहीं। गीतों का सहज मौग्ध्य 'सुर' की ओर है, 'वाणी' की ओर नहीं।

गीत और गीतिकाव्य

किन्तु गीतिकाव्य काव्य-कुल का होने के कारण 'वाणी' की ओर अपना मौग्ध्य अधिक प्रदर्शित करता है। गीति-काव्य में गीतों की सुकुमारता, भाव-केन्द्रिता और तल्लीनता तो रहेगी पर साथ ही साथ काव्य का पुट, तनिक भाव-विस्तार के रूप में, तनिक अनुभूति की विराटता अथवा गहराई के रूप में और तनिक कल्पना की विविधता के रूप में रहेगा। गीत सूर की ग्राम-गोपिकाएँ हैं, गीति-काव्य गृह-ललनाएँ—गम्भीर किन्तु फिर भी मधुर।

इन गीति-काव्यों में भी कुछ ऐसे मुक्तक हैं जिनमें आख्यान-तत्व, वर्णन विवरण-तत्त्व आदि जो होते हैं। ऐसे मुक्तकों के लिए अलग नाम-करण करना पड़ेगा। आख्यानात्मक गीति-काव्य, निबन्धात्मक गीति-काव्य, वर्णनात्मक गीति-काव्य आदि।

हिन्दी गीतों और गीति-काव्यों की परम्परा संस्कृत की परम्परा का ही विकास है। ऋग्वेद की ऋचाओं में जो गीति-माधुरी है, वह संसार के साहित्य में अद्वितीय है। सामवेद तो गीतों का सागर ही है। वेदों के उपरान्त संस्कृत के काव्यों में गीतिकाव्य का रस कालिदास के मेघदूत में उमड़ आया है।

गीत का सच्चा स्वरूप संस्कृत में जयदेव के गीत-गोविन्द में दीख पड़ता है। जयदेव की परिपाटी, चंडीदास और विद्यापति में चली आई है जो अपनी अनन्य माधुरी और मनोहारिता के लिए प्रसिद्ध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बौद्धों में भी थेर गाथा और थेरी गाथा वास्तव में गीतों का ही संग्रह है। इनका प्रभाव सिद्धों और नाथों से होता हुआ संतों की वाणियों और पदों पर पड़ा। संत कवियों के पदों, खासकर कबीर के गीतों में विरहिणी आत्मा का कातर आत्म-निवेदन है, करुण फिर भी मधुर।

वैष्णव भक्तों ने अपनी आर्द्रता गीतों में ही प्रकट की। दक्षिण के अलवार और नामदेव आदि भक्तों ने पदों और अभंगों में अपने हृदय की विह्वलता और रसमयता जिस रूप में उड़ेली है, वह अत्यधिक मार्मिक है।

सूरदास ने तो समस्त सूरसागर को गीति-काव्यात्मक रूप दे दिया। उनकी राधा गीति-काव्य की साकार मूर्त्ति है, उनकी बाल-लीला मनोहर गीतों का पुंज है, उनका प्रेम भी संगीत की अगाध धारा है। सूरदास के गीत अपनी सरसता, तन्मयता, झंकृति और औज्वल्य के लिए अनन्य हैं। सूर के गीतों ने कृष्ण को भी गीतात्मक बना डाला। फलतः समस्त कृष्ण-काव्य संगीतात्मक हो उठा और ब्रजभाषा भी संगीतमयी बन गयी।

सूर की गीति-माधुरी का प्रभाव तुलसी पर भी पड़ा। उन्होंने 'मानस' में गीत तो स्थल-स्थल पर दिए ही हैं, गीतावली, कृष्ण गीतावली और 'विनय-पत्रिका' नामक रचनाओं को गीतात्मक ही रखा।

इन संतों और भक्तों के पहले पश्चिम भारत के चारणों ने वीररस के उद्बोधक गीत लिखे थे। 'आल्हा-खंड' वीर रस का वैसा ही गीति-काव्य है।

इस प्रकार गीत और गीति-काव्य शृंगार, वात्सल्य, शांत और वीर रसों की अभिव्यक्ति में चरम विकास कर सका। इस विकास का प्रभाव रीतिकाल के कवित्त और सवैयों की झंकार में सुनाई पड़ता है, तथा घनानंद और आलम की तन्मयकारी माधुरी में दीख पड़ता है। भारतेन्दु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने तो गीतों का सौन्दर्य अच्छी तरह समझा। उन्होंने लावनी, कजली आदि लोक-गीत भी साहित्यिक रचना के लिए ग्रहण कर लिए। अनुभूति की तीव्रता और व्यापकता की दृष्टि से, रचना-प्रक्रिया की वृद्धि की दृष्टि से और नवीन लाक्षणिकता तथा फारसी भंगिमा लाने की दृष्टि से भारतेन्दु ने गीतिकाव्य में युगान्तर उपस्थित किया।

छायावाद युग प्रगीतात्मक कहा जाता है। वह युग सचमुच गीति-काव्य का युग था। तभी श्री मैथिलीशरण गुप्त के साकेत और यशोधरा जैसे प्रबन्धकाव्यों में गीतों की बहुलता है। गीत ही उनकी प्राणधारा है, उन काव्यों का श्री-सौन्दर्य है। छायावाद-युग के गीतिकारों में पन्त, प्रसाद, महादेवी वर्मा और निराला प्रमुख हैं। इन चारों ने गीतों को इतनी गंभीरता, व्यापकता, चित्तात्मकता और सांगीतिकता दी है कि गीतिकाव्य अपनी महत्ता में अब प्रबन्ध-काव्य तक से टक्कर ले सकता है। इन गीतिकारों के अलावा रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, नेपाली, हंसकुमार तिवारी, भारती, गिरजा कुमार माथुर, जानकी बल्लभ शास्त्री आदि प्रमुख गीतिकार हैं जिनकी रचनाओं से हिन्दी की गीति-काव्य-परम्परा विकसित होती जा रही है। रेडियो और छाया-चित्रों ने गीतिकारों को प्रश्रय देकर गीति-काव्य-परम्परा के विकास को नया बल दिया है।

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास

कथा-कहानियों से मनुष्य प्रारम्भ से ही मुग्ध रहा है। यही कारण है कि उसका आदि-स्रोत अत्यधिक प्राचीन है। कथाओं की इस परम्परा में अंग्रेजों के भारत में जम जाने के बाद 'उपन्यास' नाम से एक नयी कथा-शैली चल पड़ी जो सबसे पहले बंगाल में सम्भवतः इसलिए दीख पड़ी कि अंग्रेज वहाँ पहले से ही जमे हुए थे।

'उपन्यास' शब्द भारतीय वाङ्मय के नाटक की प्रतिमुख संधि में मिलता है। किन्तु इस उपन्यास को 'नॉवेल' के पर्यायवाची 'उपन्यास' से मिलाना और उसकी परिभाषा-विशेषता आदि को इस पर घटित करना द्रविड़ी प्राणायाम और दुराग्रह-सा है। 'नॉवेल' के पर्याय में यह 'उपन्यास' शब्द बंगाल में गढ़ा गया, सम्भवतः भूदेव बाबू के द्वारा। मराठी में इसके लिए दो शब्द रखे गये। एक को नवल-कथा जो नॉवेल के आधार पर नया गढ़ा शब्द है और दूसरा कादम्बरी जो बाण की कादम्बरी का ज्ञापक जातिवाचक शब्द है। यहाँ यह याद रख लेना चाहिए कि 'नॉवेल' शब्द और वस्तु अंग्रेजों की उत्पत्ति नहीं एक उपलब्धि है। उन्होंने इटली से इन्हें प्राप्त किया। सम्भवतः इससे पहले बोकाचियो ने १३५० में "डिकामेरन' नाम से 'नॉवेला स्टोरिया' लिखा। 'नॉवेला स्टोरिया' से उसका मतलब ताजी कहानी से था। बाद में 'नॉवेल' उन सारी गद्य-कथाओं को कहने लगे जिनमें रोमांस की दिलकश शोखी और साहसिकता के साथ-साथ जिन्दगी की रवानी, यथार्थता की ताजगी और गर्मी हो।

'उपन्यास' बहुत शीघ्र ही साहित्य का सिरमौर हो उठा। इसका कारण एकमात्र मुद्रणयंत्र, समाचार-पत्र आदि की सुविधा ही नहीं वरन् उपन्यास भावाभिव्यक्ति का बड़ा ही लचीला माध्यम है; उसका व्याकरण कोई पाणिनीय व्याकरण नहीं। सभी प्रकार की नवीनताओं के ग्रहण के लिए चाहे वे भाव-विचार सिद्धान्त के हों अथवा टेक्निक के हों—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपन्यास जैसा उदार, सहिष्णु, सर्वग्राही, समरस और है कौन ? नीति, सिद्धान्त, मनोविज्ञान आदि के प्रसार, प्रचार के लिए तथा विरोधी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आकर्षणों से विच्छिन्न और संघर्षों से विदीर्ण मनुष्य के जटिल ग्रंथिल और मार्मिक रूप से उद्‌घाटन के लिए उपन्यास जैसा सरल और सर्वाधिक प्रभविष्णु माध्यम दूसरा नहीं। न केवल इसलिए कि उपन्यास गद्य में लिखा जाता है और गद्य अपनी लोच और नमनीयता के कारण अधिक चैतन्यवाही हो उठा है न केवल इसलिए कि आज के युग और जीवन वैज्ञानिक, बुद्धिवादी और गद्यात्मक हैं अतएव, गद्य की ओर युग-जीवन का सहज स्वार्थी मौख्य है; किन्तु इसलिए भी कि उपन्यास और मध्यम-वर्ग की अन्तः प्रवृत्तियों में एक गहरी समानता है और मध्यम-युग की संध्या से युग-जीवन अधिकाधिक मध्यम-वर्गीय होता आ रहा है, उपन्यास उस विशाल मध्यम-वर्ग का (और उन शोषितों-पीड़ितों का भी जिनका नेतृत्व मध्यमवर्ग कर रहा था और है) जो जीवन की समस्त कटुताओं और पेचीदगियों में उलझा-फँसा जीवट के साथ संघर्षों से जूझकर जीवनशक्ति का अद्वितीय उदाहरण पेश कर रहा था, एक करुण प्रशान्त इतिहास है, शक्ति-काव्य है 'गद्य में महाकाव्य' है। भाषा की दृष्टि से देखें, रचना प्रतिक्रिया की दृष्टि से देखें, उद्देश्य और संदेश की दृष्टि से देखें, उपन्यास सर्वत्र मध्यममार्गी है।

'उपन्यास' को 'गद्य में महाकाव्य' जैसी प्रशस्ति जो मिली इससे हम कहीं यह धारणा न बना लें कि उपन्यास और महाकाव्य एक हैं। महाकाव्य अधिक उदात्त, वीर्यमान, शाश्वत और सार्वभौम होता है और देश-काल-गत सीमाओं से वह तनिक सीमातीत होता है; किन्तु उपन्यास का स्वर उतना उदात्त, उठान उतनी गरिमामयी और सशक्त तथा सन्देश उतना चिरंतन और सार्वदेशिक नहीं होता। उपन्यास में राजस् प्रवृत्ति का प्राधान्य हो तो महाकाव्य में सात्विक का, उपन्यास सांसारिक मानव का सन्तोष हो तो महाकाव्य चिरंतन मानवता का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उद्घोष है। उपन्यास का मेरुदण्ड "यथार्थ" है 'अर्थ और काम' है। महाकाव्य का मेरुदंड 'धर्म' और मोक्ष है। वह पारिवारिक सामाजिक व्यक्ति का जयगान अथवा विषाद-अश्रु हो तो यह मानवता के आदर्शों का उल्लसित प्रकर्ष गान है।

तो लेखकों और पाठकों ने उपन्यास में जो सारल्य और तारल्य पाया, उसकी प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता की जो विराट् शक्तियाँ देखीं वे ही उपन्यास को इतना शक्तिशाली साहित्यांग बना सकीं। हिन्दी उपन्यास की सर्वप्रथम मौलिक कृति चाहे श्री श्रद्धाराम फुल्लौरी का उपन्यास 'भाग्यवती' (१८७३) हो अथवा भारतेन्दुजी कृत (?) 'पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' हो अथवा श्री निवासदास का 'परीक्षा गुरु' (दूसरा संस्करण १८८६), यह हम निर्विवाद रूप में कह सकते हैं कि उपन्यासों की परम्परा 'भारतेन्दु युग' से ही चली। इसके कारण हैं—उस युग की लोक-तन्त्रात्मक भावना जो सन् सत्तावन की क्रांति के बाद अरुणित हुई, भारतेन्दु जी के द्वारा हिन्दी-गद्य का स्वरूप निर्धारण, साहित्य में देश-प्रेम, समाज-सुधार अर्थात् जन-जागरण की चेतना का उद्बुद्ध होना और हिन्दी कथा-साहित्य की प्राचीन परम्परा की सरस्वती को पश्चिम के देशों और बंगला-साहित्य के प्रभाव-स्वरूप नॉवेल और उपन्यास नाम से गंगा-यमुना की प्राप्ति। भारतेन्दु-युग के उपन्यासकार राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास आदि थे और हम बेखटके कह सकते हैं कि इस युग ने उपन्यास-निर्माण की प्रस्तावना दी। इन प्रारम्भिक उपन्यासों की यथार्थवादिता, नाटकीयता, वातावरण, चित्रण-कौशल, पात्रानुकूल भाषा नियोजना और समस्या-निरूपण-पटुता को देख हम उनकी उद्भावना शक्ति, रोचक शैली तथा चरित्र-चित्रण की निपुणता पर मुग्ध होते हैं और कह सकते हैं हिन्दी उपन्यास साहित्य लड़खड़ाता हुआ नहीं चला, वरन् उसने धीर और सबल चरण उठाये। सुधारात्मक यथार्थवाद का बीजारोपण हो चुका था। पल्लवन 'प्रेमचन्द' में हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्विवेदी युग हिन्दी साहित्य में एक कर्मयोग लेकर, निष्ठा और सात्विकता के लिए 'यज्ञ' बनकर आया। इस युग ने चार प्रकार के उपन्यास दिये—(१) जासूसी (२) ऐतिहासिक (३) उपदेशात्मक सामाजिक और (४) अनूदित उपन्यास। देवकी नन्दन खत्री, गोपाल राम गहमरी, किशोरी लाल गोस्वामी ने तो इतिहास ही बना लिया। चन्द्रकान्ता, भूतनाथ, चन्द्रकान्तासंतति तथा गहमरी जी के १२६ उपन्यास और गोस्वामी जी की १५० रचनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। उन उपन्यासों के कथा तत्त्व में फैलाव अधिक हैं और अस्वाभाविक अतिप्राकृतिक तत्त्वों की नियोजना भी खूब है। कथा-तत्त्व के द्वारा विस्मित-स्तंभित रखकर जन-साधारण की कुतूहल वृत्ति को संतुष्ट करने की दृष्टि से तथा भाषा-प्रचार की दृष्टि से इन उपन्यासों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अनूदित उपन्यास में बंगला, अंग्रेजी आदि के अनुवाद अधिक हुए। इन उपन्यासों ने तिलस्म की ओर से उपन्यास साहित्य को यथार्थवाद, रोचक किन्तु प्रकृत कथा, मनोवैज्ञानिक विकास, रोमांसी भावनाकुलता, भारतीयता और परिष्कृत ललित भाषा की ओर उन्मुख किया।

प्राक्-प्रेमचन्द-युग के उपन्यासों में केन्द्रापगामिता की प्रवृत्ति उनके कथा-तत्त्व के नियोजन में स्पष्ट है। प्रतिक्रियास्वरूप प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर युग में केन्द्रानुगमिता की प्रवृत्ति बल पकड़ने लगी। तत्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों तथा राममोहन राय, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और गाँधी जैसे उन्नायकों के प्रयत्नों के कारण साहित्य में जो प्रवृत्तियाँ चल पड़ीं उन्हें हम बुद्धिवाद, आदर्शवाद, जनवाद, मानववाद, और राष्ट्रवाद के नाम से पुकार सकते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों में इनकी मुद्राएँ झलकती हैं। तार्किकता, यथार्थ-चित्रण और रूढ़ि विनाश में बुद्धिवाद है, दलितों, उपेक्षितों और मूक निरीह निम्नवर्गों के चित्रण में जनवाद है, समस्याओं के निदान में आदर्शवाद है, तो मानववाद और राष्ट्रवाद तो उनके कथा-साहित्य की दिव्यभूमि है। प्रेमचंद के साहित्य में समस्त भारत का हृत्पिंड है। जैसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसमें भारत माता के ही अपने अश्रु-हास हों, बेबसी की उफ और जीवनेच्छा की तड़प हो। उनकी लोकप्रियता का कारण न केवल गांधी-वाद, राष्ट्रवाद और अन्त में साम्यवाद है, किन्तु मानव-मात्र की वह दिव्य साधना है जहाँ वाद ग्रन्थियाँ खोल देता है। जन-जागरण का जैसा प्राणवान चित्रण, भारत की विश्रृंखला और फिर भी समग्रता का जैसा अखंड निदर्शन और उपन्यास के लिए विशाल पटभूमिका जैसा रोचक उपयोग तथा जनभाषा का जैसा समृद्ध किन्तु सरल प्रयोग प्रेमचन्द ने किया, वह अबतक अद्वितीय है। 'गोदान' प्रेमचन्द के जीवन मंथन का श्रेष्ठ रत्न है।

प्रेमचन्द की परम्परा अन्य उपन्यासकारों ने जीवित रखी। सुदर्शन, वाजपेयी, कौशिक, श्रीवास्तव, प्रतापनारायण, ऋषभचरण, चतुरसेन शास्त्री आदि की कृतियाँ उसी सम्राट् की जैसे श्रद्धांजलियाँ हों। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने भारतीय संस्कृति और शौर्य की बड़ी रमणीय और भव्य झलक दिखलायी है।

प्रेमचन्द की परम्परा से कुछ हट कर जैनेन्द्र ने कथा-साहित्य में एक विशेषता दी और वह थी दर्शन तथा मनोविज्ञान की निगूढ़ नियोजना। गाँधी जी के अहिंसात्मक नीति के समर्थक तथा जैन मतानुयायी होने के कारण जैनेन्द्र में अहिंसा, विश्व-प्रेम, आत्म-संयम और दार्शनिक निर्लिप्ति मिलेगी। प्रेमचन्द तथा उनके वर्ग के उपन्यासकारों में जो आर्जव, स्पष्टता, मर्यादा थी, वह कुछ वक्र, धूमिल और स्वच्छन्द हो उठी है। प्रेमचन्द में बहिर्जगत का खुला चित्रण था, प्रेमचन्दोत्तर युग में अन्तर्जगत के रहस्य-लोक की मनोविश्लेषणात्मक झाँकी है। वहाँ सामूहिक चेतना का चित्रण है; यहाँ वैयक्तिक अवचेतन का रहस्यो-द्घाटन। जैनेन्द्र इन दोनों की संधि-भूमि में हैं। प्रेमचन्द्र के परवर्ती उपन्यासकारों पर मार्क्स, फ्रायड, एडलर, युंग, सार्त्रे आदि मनीषियों के प्रभाव स्पष्ट हैं। मनोविश्लेषण के प्रभाव इलाचन्द्र, यशपाल, नरोत्तम, मन्मथनाथ, द्वारिका प्रसाद, सर्वदानंद वर्मा आदि के उपन्यासों में पर्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्षित होते हैं। राहुल जी, यशपाल, नागार्जुन, धर्मवीर भारती पर कुछ न कुछ मार्क्सीय प्रभाव है। इन सबसे पृथक् अपने गहन चिन्तन, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, बुद्धिज धीर-गम्भीर भावुकता तथा सर्व-ग्राही चेतना-शीलता के लिए 'अज्ञेय' प्रेमचन्दोत्तर युग की विशिष्ट शक्ति हैं और उनकी 'शेखर : एक जीवनी' एक प्रकाश स्तम्भ। अज्ञेय जी का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' सामाजिक कुण्ठाओं का चित्र उपस्थित करता है।

किन्तु अब कुछ ऐसा लगता है कि जैसे जोशी हों, यशपाल हों, वर्मा हों, जैनेन्द्र हों अथवा अज्ञेय हों, इनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा प्रसार की ओर न जाकर आवृत्तियों के चक्र बना रही है, जैसे शक्ति में ह्रास आ गया हो। अब कृतियाँ नहीं अनुकृतियाँ निकलती हैं। दूसरी ओर माचवे (परन्तु), भारती (सूरज का सातवाँ घोड़ा) आदि उपन्यास-क्षेत्र में प्रयोग करने लगे हैं और उसे कहानी, स्केच, रिपोर्ताज के स्तर पर उतार लेना चाहते हैं। 'वर्मा' की तरह राधाकृष्ण (रूपान्तर) अतीत की ओर मुड़कर जीवन की आधुनिक एवं शाश्वत समस्याओं के निदान के काव्यात्मक गरिमायुक्त उपन्यास लिख रहे हैं। इधर नागार्जुन (रतिनाथ की यात्री, नई पौध, बलचनमा) स्थानीय रंग तथा भाषा के गहरे पुट देकर वर्णनात्मकता को कथा का पर्याय बनाना चाह रहे हैं।

अत्याधुनिक उपन्यासकारों में अमृतराय, डाक्टर देवराज, 'मित्र', लक्ष्मीनारायण लाल, रांगेय राघव, फणीश्वरनाथ रेणु आदि जो प्रयोग कर रहे हैं, उनसे उन्हें पर्याप्त ख्याति मिली है। इनमें से फणीश्वरनाथ रेणु का "मैला आँचल" और डा० लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' लोक-प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

अतएव हम कह सकते हैं कि हिन्दी-उपन्यास उत्तरोत्तर विकास की ओर बढ़ रहा है और उसका भविष्य निस्सन्देह उज्ज्वल है।

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास

काव्य में नाटक सब से रमणीय और अपनी प्रेषणीयता में अन्यतम विधा है। वह इसलिए कि नाटक में यज्ञ और तप दोनों हैं। तप नाटककार का है। यज्ञ, अभिनय करनेवालों का है। यहीं सगुण और निर्गुण की संधि होती है—निर्गुण नाटककार के भाव हैं जिन्हें रूपायित अभिनेता करते हैं। रंगमंच का जीवन स्थूल नाटकों को अभिनय के द्वारा सजीव बनाता है। अभिनय में सभी कलाओं का योग है। वास्तु, स्थापत्य, चित्र, मूर्त्ति, संगीत, नृत्य आदि। नाटक ही इस विराट् नाट्य शाला की जिसे हम संसार कहते हैं एक प्राणवान् प्रतिमा है। रसं के सामाजीकरण और संदेशों की लोक संवेदनीयता के लिए नाटक श्रेष्ठ माध्यम है। कविता का रस वैयक्तिक वन्दन मात्र है; किन्तु नाटक का रस दर्शकों में आकर 'कीर्तन' हो उठता है।

यद्यपि हिन्दी को समृद्ध, संस्कृत और प्राकृत नाटकों की मूल्यवान सम्पत्ति उपलब्ध थी, तथापि इसका उपयोग, कहा जाता है, उन्नीसवीं शताब्दी के पहले वैसे रूप में न हो सका जैसे की अपेक्षा थी। इसके कारणों में कुछ ऐसे कारण उपस्थित किये जाते हैं—जैसे गद्य का अभाव, मुसलमानी शासन और संतों की निराशामूलक वाणी आदि-जो वस्तुतः संतोषजनक नहीं। मध्ययुग में वैष्णव आन्दोलन ने जनता को रासलीला और रामलीला के रूप में जननाट्यशालाएँ दीं। सूरपदावली का गीति-नाट्यमयी होना और तुलसी के रामचरित मानस का नाटकीय होना यह प्रमाणित करते हैं कि न केवल ये दोनों कवि अपितु जनता भी नाटक की ओर आकृष्ट थी। संभवतः तुलसी ने ही रामलीला का और वल्लभाचार्य ने रासलीला का प्रचलन भी किया था। राज्य-संरक्षण के अभाव के कारण पश्चिम भारत से नाट्य-रचना लुप्त हुई; किन्तु पूर्वीय भारत में नाट्य-रचना को मिथिला, नेपाल और आसाम में राज्य-संरक्षण मिला। मिथिला के कीर्त्तनिया नाटककार प्रसिद्ध हुए। कहते हैं वहाँ अ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिक उच्च कोटि के नाट्यकारों ने १०६ से ऊपर नाटकों की रचना की। नेपाल के कर्णाट वंशी राजाओं के आश्रित नाट्यकारों ने भी अनेक सुन्दर नाटक लिखे। दरभंगा नरेश के आश्रित नाट्यकारों में १६ नाट्यकारों ने व्यवस्थित रंगमंच और अनेक नाटकों का निर्माण किया। इसी प्रकार कामरूप राजकुल की स्थापना के बाद अंकिया नाटक के नाम से नाटकों की एक लम्बी परंपरा मिलती है। हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास का पुनर्निर्माण इन नाटकों को दृष्टि में रख कर करना होगा और बिहार प्रदेश के योगदान का वास्तविक महत्त्व आँकना होगा।

इसके बाद का युग चिन्तनहीनता और व्यक्तित्व के अकाल का युग है। मध्ययुगीन सामंती व्यवस्था के खंडहरों पर अंग्रेजों ने कुछ काल बाद ही पूंजीवादी व्यवस्था का महल उठाया। सन् सत्तावन के बाद न केवल अंग्रेजों की शक्ति भारत में पूरी तरह जम गयी किन्तु भारतीय जनता में संघटन के द्वारा सर्वांगीण सुधार एवं शक्ति प्राप्त करने की चेतना लहरा उठी। संघ-शक्ति की महिमा युगों के बाद पहली बार पहिचानी गयी। किन्तु पहले के संघ साम्प्रदायिक धार्मिक सैनिक होते थे; अब जो संघ बनने लगे वे सामाजिक अतएव लोकतन्त्रात्मक थे। इन संघों का नेता धर्म-गुरु अथवा सेनापति अथवा राजा न था। इनका नेता नवोदित मध्यमगर्वीय उदार चेता कर्मठ व्यक्ति होता। नाटक व्यक्ति नहीं समष्टि को लेकर चलता है। उसे एक संघ चाहिये लेखकों का, अभिनेताओं का, रंगमंच बनाने-सजानेवालों का और दर्शकों का। नाटक के लिए ये चार आवश्यक हैं। और ये चारों सन् सत्तावन के विप्लव के बाद अंकुर फोड़ रहे थे। भारतेन्दु ने इन चारों तत्वों में नव रस उड़ेला, चारों को पुष्ट किया। फल यह हुआ कि भारतेन्दु-मंडली ने अनेक नाटककार दिये, अभिनेता बनाये, रंगमंच को उन्नत किया और दर्शकों का मानसिक स्तर ऊँचा किया। भारतेन्दु के दो नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' बलिया के ददरी मेले में खेले गये थे और भारतेन्दु को वहाँ बुलाया भी गया था। भारतेन्दु ने वहाँ भाषण भी किया था। मेले में, उत्सवों में, गावों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में नाटक खेलवाकर भारतेंदु नाटकों का प्रचार अक्खड़ देहाती जनता तक कर देना चाहते थे। स्वयं अभिनय भी करते थे। भारतेंदु ने प्रायः सभी प्रकार के नाटक लिखे—रूपक, नाट्य-रासक, प्रहसन, व्यायोग, सट्टक, नाटक, नाटिका, भाण गीतिरूपक आदि। उनकी १८-१६ नाटक रचनाओं में कुछ अनुवाद है, कुछ मौलिक, कुछ में पौराणिक कथा है, कुछ में तत्कालीन यथार्थ चित्रण। कुछ में कारुण्य है तो कुछ में तीखे व्यंग्य। भारतेंदु की नाट्य-कृतियाँ जीवन की विविधताओं का निरूपण करती हैं। किन्तु उनमें फैलाव अधिक है गहराई कम। इस फैलाव को भी शेक्सपीयर के फैलाव के सामने हम फीका और ढीला पाते हैं। इसका कारण है। वह यह कि शेक्सपीयर अपने पूर्व की नाटककार-परम्परा का विकास है किन्तु भारतेंदु तो एक सर्वथा नवीन और मौलिक प्रयास हैं। शेक्सपीयर एलिजबेथन-युग की शांति, समृद्धि और विलास की उपज है; भारतेंदु पराजित, विश्रृंखल, जर्जर भारतीय समाज के सन् सत्तावन के बाद की मध्यमवर्गीय चेतना के नवस्पन्दन हैं। भारतेंदु-युग के नाटककारों में काशिनाथ, श्री निवास दास, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख हैं। मानता हूँ भारतेंदु और उनके युग के नाटकों में पक्ष-चित्रण में एक पक्षपात है, चरित्रों में स्थूलता है, राष्ट्रियता भूमि और भूमिवासी की मोटी राष्ट्रीयता है; किन्तु उन नाटकों में जो अनुभूति की सच्चाई और जन-जीवन को उद्वेलित करने का संबोधन है, वह अभूतपूर्व है।

भारतेन्दु-युग की राष्ट्रियता प्रसाद में कुछ गहन, मधुर और व्यापक होकर आयी। 'प्रसाद' की लगभग १३ नाट्य कृतियों में जो स्वर सब से अधिक तेज और मर्मभेदी है वह है सांस्कृतिक स्वर। भारतेंदु ने भूमि भूमिवासी का गुण-गान किया। 'प्रसाद' ने उससे आगे बढ़कर भूमिवासियों की संस्कृति का उद्‌घाटन किया। यही पक्ष राष्ट्रियता की आत्मा भी है विभु और भूमा का पक्ष है। प्रसाद के नाटकों में युगानुरूपता कम है चिरंतनता अधिक; फैलाव कम है गहराई अधिक। फल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप नाटकों के तीन कोण—अभिनेता, रंगमंच और दर्शक—कुछ उपेक्षित रह गये।

प्रसादोत्तर युग में श्री सेठ गोविन्द दास, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री सियाराम शरण गुप्त आदि में हम सांस्कृतिक चेतना और आत्मबल के लिए आग्रह पाते हैं। गोविन्द वल्लभ पंत के नाटकों में अभिनीयता पर बल है, हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक साहित्य और अभिनय-कला दोनों की दृष्टि से सुन्दर और सुरुचिपूर्ण हैं। इन नाटककारों ने मूलतः नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पक्षों का उद्‌घाटन किया है। व्यक्ति और समाज तथा राजनीति की समस्याओं को लेकर श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र और श्री सेठ गोविन्द दास ने अनेक नाटक लिखे। मिश्र जी सेक्स समस्या के बौद्धिक निदान देते हैं और सेठ जी में गांधीवादी आदर्शवाद प्रखर है जो राजनीतिक, सामाजिक सभी समस्याओं के तम का भेदन करता है। इब्सन, शॉ और द्विजेन्द्र लाल के प्रभाव इस युग पर पड़े।

नाटक की अन्य विधाओं में नाट्य रूपक, गीतिनाट्य, भाव-नाट्य एकांकी, स्वोक्ति नाटक और रेडियो रूपक की उन्नति और विकास भी दर्शनीय है। 'प्रसाद' की कामना, भगवती प्रसाद की छलना, पंत की ज्योत्स्ना, सेठ जी का नव रस आदि नाट्य-रूपक हैं। यह परंपरा संस्कृत से विकसित तो हुई; परंतु विकास शीलता इनमें वैसी प्रत्यक्ष नहीं। गीति-नाट्य की परम्परा प्राचीन है। यह भावनामूलक छंदोबद्ध नाटक है। 'प्रसाद' का करुणालय ही सम्भवतः प्रथम गीतिनाट्य है। गुप्त जी का 'अनघ', 'प्रेमी जी का 'स्वर्ण-विहान', निराला जी का 'पंचवटी', भगवती चरण वर्मा जी का 'तारा' और उदयशंकर भट्ट के 'मत्स्यगंधा', 'विश्वमित्र' तथा 'राधा' प्रमुख गीतिनाट्य है। यहीं विहार के तीन गीतिनाट्य की चर्चा कर दूँ। वे हैं श्री गौरीशंकर मिश्र द्विजेन्द्र का 'राजा परीक्षित', श्री राम संजीवन सिंह का 'समाधान' और श्री सिद्धिनाथ कुमार का 'कवि'। भाव-नाट्यों में माध्यम गद्य होता है यही गीति नाट्यों से उनकी विशिष्टता है। भारतेन्दु की 'चन्द्रावली', गोविन्द बल्लभ पंत की 'बरमाला',

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'अन्तःपुर का छिद्र', उदयशंकर भट्ट की 'अम्बा' आदि रचनाएँ भावनात्म हैं। मोनोड्रामा का प्रारम्भ संभवतः श्री सेठ गोविन्द दास ने किया। श्री रामवृक्ष का स्वोक्ति मूलक नाटक 'सीता की मा' अपनी विशिष्टता में एक ही है। एकांकियों का बीज हम भारतेन्दु में पाते हैं किन्तु 'प्रसाद' का एक घूंट संभवतः प्रथम एकांकी है। एकांकी लेखकों में रामकुमार वर्मा उग्र, भुवनेश्वर प्रसाद, कमलाकान्त वर्मा, गणेशशंकर द्विवेदी, अश्क, प्रेमी, विष्णु प्रभाकर आदि प्रमुख हैं। रेडियो रूपक दृश्य-काव्य नहीं। उसका समस्त दृश्यत्व यहाँ श्रव्य हो उठता है। कान ही सब काम करते हैं, आँख के भी। वास्तव में काव्य न तो दृश्य होता है, न श्रव्य। काव्य का द्रष्टा और श्रोता आंखें और कान नहीं, मन है। वही रस-ग्राहक भी है। रेडियो रूपक इसीलिए ऐसा विधान करता है कि दृश्य, परिस्थिति, अंग संचालन (अभिनय) सब कुछ श्रव्य हो। रेडियो रूपक में 'भट्ट', वर्मा, विष्णु प्रभाकर आदि महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

हिन्दी नाटक अनेक दिशाओं में उन्नति कर रहा है। किन्तु उसका रंगमंच अभी भी अविकसित है। प्रसिद्ध कलाकार पृथ्वीराज कपूर ने उसके लिए उद्योग शुरू किया है। जब तक रंगमंच का उत्थान नहीं होता, हिन्दी नाटक केवल पाठ्य ग्रंथ मात्र रह जायँगे। रंगमंच ही वह त्रिवेणी है जहाँ नाटककार की सरस्वती को अभिनेता की यमुना और जन-समाज की गंगा का अकूतजल मिलता है। रंगमंच जन-रुचि को पदा करनेवाला ब्रह्मा है, रंजक रक्षक विष्णु है और महाकाल शिव है। इसके विना नाटक दृश्य तो है नहीं; काव्य है या नहीं इस पर भी विवाद हो सकता है।

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहस्यवाद और हिन्दी काव्य

सृष्टि के नियामक, उसके रचयिता, विराट् के प्रति मानव मन और मानव हृदय आदि काल से लेकर आज तक जिज्ञासा और कौतूहल से अभिभूत रहा है और उसके रहस्य को जानने के लिये, उससे साक्षात्कार करने के लिये, उसे प्राप्त करने के लिये, उसमें लीन हो जाने के लिये उसने आज तक जो प्रयत्न किये हैं, अपनी भावनाओं को, अपनी अभिलाषाओं को, अपनी तड़प और छटपटाहट को जिन-जिन रूपों में व्यक्त किया है, वे सभी 'रहस्यवाद' की परिधि के अन्तर्गत आ जाते हैं। सृष्टि के रचयिता के रहस्य को जानने के लिये, उससे परिचय प्राप्त करने के लिये, अपनी आत्मा को उस परमात्मा से एकाकार करने के लिये, मानव ने जो भी राहें अपनाई हैं, चाहे वे साधनात्मक हों अथवा भावात्मक या चिन्तनात्मक, 'रहस्यवाद' की परिभाषा निर्मित करती हैं।

डा॰ रामकुमार वर्मा के शब्दों में "रहस्यवाद जीवात्मा की उस अंतर्हित प्रकृति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्चल संबध जोड़ना चाहता है और वह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अन्तर नहीं रह जाता।"

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय ने भी 'रहस्यवाद' की व्याख्या करते हुए इसी प्रकार की बातें कही हैं—"रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने ससीम और पार्थीव अस्तित्व से उस असीम एवं स्वर्गिक महा अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है।"

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में लगभग एक सी ही विचार धारा व्यक्त हुई है कि आत्मा का परमात्मा से एकाकार हो जाने के प्रयत्न करना एवं उसे खोजकर उससे एकाकार हो जाना ही रहस्यवाद है।

रहस्यवाद के उन दो स्वरूपों की ओर इंगित कर देना भी आवश्यक है जो मस्तिष्क और हृदय से क्रमशः उत्पन्न होकर अलग-अलग नाम ले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बैठे हैं। प्रारंभ से ही भारतीय मनीषियों एवं चिन्तकों ने विराट् सत्ता अथवा ब्रह्म के प्रति अपनी जिज्ञासा को शान्त करने का प्रयत्न किया है, परन्तु चूँकि उनकी खोज एवं उनकी क्रियाएँ उनके मस्तिष्क से ही संबधित थीं, उनके ज्ञान से संचालित थीं, अतः वे 'दर्शन' की कोटि में आ गईं और उनकी उस विचारधारा को 'अध्यात्मवाद' का नाम मिल गया। दूसरी ओर कवि ने विराट् एवं ब्रह्म की खोज हृदय की भावनाओं के आधार पर उन्मुख किया इस कारण उसकी भावधारा जटिल न बन पाई और न उसके निष्कर्ष दार्शनिकों के चिन्तन की भाँति गूढ़ ही हुए। अतः उन्हें 'रहस्यवाद' का नाम मिला। तात्पर्य यही कि जहाँ दर्शन के क्षेत्र का रहस्यवाद मस्तिष्क और ज्ञान से संबधित होने के कारण गूढ़ एवं जटिल है वहाँ काव्य के क्षेत्र का रहस्यवाद हृदय व भावना से संबधित होने के कारण मधुर है, ग्राह्य है, रमणीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।"

काव्य के क्षेत्र में 'रहस्यवाद' के दर्शन सबसे प्रथम हमें हिन्दी कविता में होते हैं। कारण प्राचीन काल के संस्कृत कवियों ने अपने काव्य में उसे स्थान नहीं दिया। उनके युग में विराट् एवं ब्रह्म दार्शनिक ग्रन्थों की गूढ़ चिन्तना का ही विषय रहा। हिन्दी कविता में 'रहस्यवाद' का व्यक्तीकरण भावना की पृष्ठभूमि में होने के कारण आकर्षक व रमणीय है। उसकी भावभूमि मधुर है यद्यपि प्रारम्भ में नागपंथियों व सिद्धों ने उसे गूढ़ बनाए रखने की ही चेष्टा की है। कबीर के कुछ पद व उलटबासियाँ भी दार्शनिक रहस्यवाद की सीमा में ही आती हैं जिनमें बौद्धिकता का प्राधान्य है। जायसी ने रहस्यवाद को भावात्मक स्वरूप प्रदान किया। उनके 'पद्मावत' में रहस्यवाद की भूमि भावनामयी व अत्यधिक मधुर है यद्यपि सूफी होने के कारण उसमें फारसी सिद्धान्तों का समावेश है। जायसी के पश्चात् तुलसी वा मीरा के काव्य में रहस्यवाद का सुन्दर स्वरूप दीख पड़ा। तुलसी ने अवश्य कहीं-कहीं दार्शनिक रहस्यवादों की भाँति विराट्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की जटिल व गूढ़ विवेचना की है। आधुनिक काल में रहस्यवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप महादेवी वर्मा की रचनाओं में दीख पड़ता है। आत्मा व परमात्मा के पारस्परिक संबंधों की सुन्दर व्याख्या, परमात्मा को प्रियतम मानकर उससे एकाकार हो जाने की उत्कृष्ट इच्छा के दर्शन हमें मीरा के पश्चात् महादेवी के काव्य में ही होते हैं। महादेवी वर्मा के अतिरिक्त प्रसाद, पंत, निराला व रामकुमार वर्मा भी रहस्यवादी कवियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। सबने अपनी-अपनी अनुभूतियों के अनुरूप ही आत्मा व परमात्मा के संबंधों का वर्णन किया है।

वास्तव में रहस्यवाद कोई वाद नहीं है। रहस्यवाद केवल कवि के हृदय की विराट् से एकाकार हो जानेवाली भावना का व्यक्तीकरण ही है। ब्रह्म विराट् से कवि अथवा साधक का मिलन भी एकाएक नहीं हो जाता, उसे कतिपय अवस्थाओं को पार करना पड़ता है जो उसकी अनुभूतियों के अनुरूप स्वयं ही निर्मित हो जाती हैं। इन्हें हम रहस्यवाद की तीन अवस्थाओं के नाम से पुकार सकते हैं जो जिज्ञासा, प्रयत्न व मिलन कहलाती हैं। सबसे पहले कवि अथवा साधक को ब्रह्म अथवा विराट् के प्रति जिज्ञासा होती है। वह विराट् के रहस्य को जानने के लिये उत्सुक हो उठता है और कौतुहल से भर जाता है।

जिज्ञासा, प्रयत्न और मिलन की इन्हीं तीन अवस्थाओं का वर्णन कवियों ने अपनी अनुभूतियों के आधार पर विभिन्न प्रकार से किया है, यही कारण है कि रहस्यवाद के विद्वानों ने कई भेद किए हैं। श्रीगुलाब-राय ने पाँच प्रकार के रहस्यवाद की चर्चा की है—

(१) जिसमें ज्ञान और दार्शनिकता की प्रधानता है—उदाहरण के लिए कबीर, दादू, प्रसाद आदि का रहस्यवाद—

"जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फुटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तत कथौ गियानीं ॥" (कबीर)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) जिसमें पति-पत्नी के संबध द्वारा आत्मा-परमात्मा के संबन्ध की व्यंजना होती है, माधुर्य भावना की प्रधानता रहती है, आत्मा को पत्नी व परमात्मा को पति मान कर सामीप्य का अनुभव किया जाता है—

'हरि मोर पिउ, मैं राम की बहुरिया (कबीर)

अथवा—

नयन श्रवण मय, श्रवण नयन मय, आज हो रही कैसी उलझन—
क्या प्रिय आनेवाले हैं (महादेवी)।

या फिर

'मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरो न कोई'
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥ (मीरा)

जायसी, कबीर, मीरा, महादेवी का काव्य इस प्रकार के रहस्यवाद का उदाहरण है।

(३) साधनात्मक रहस्यवाद—कबीर, नाथपंथियों, सिद्धों का रहस्यवाद इस कोटि का है।

(४) भक्ति और उपासना-प्रधान रहस्यवाद—तुलसी का काव्य इसका उदाहरण है।

(५) प्रकृति सम्बधी रहस्यवाद—यहाँ कवि प्रकृति के माध्यम से विराट् की सत्ता का अनुभव करता है, उससे मिलने का प्रयत्न करता है। यहाँ आकर रहस्यवाद और छायावाद में बहुत कम भेद रह जाता है। छायावादी कवियों की रचनाएँ इस प्रकार के रहस्यवाद के सुन्दर उदाहरण हैं।

उदाहरणार्थ—

"मिले तुम राकापति में आज, पहन मेरे दृगजल का हार,
बना हूँ मैं चकोर इसबार, बहाता हूँ अविरल जलधार।
नहीं फिर भी तो आती लाज, निठुर यह भी कैसा अभिमान ॥"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधुनिक काल में रहस्यवाद का अत्यधिक दुरुपयोग किया गया है। इसकी रहस्यात्मकता के आवरण में अनेक कवियों ने निरर्थक उद्भावनाएँ कर अपने को रहस्यवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया, इसे एक प्रकार का फैशन मान लिया। इस दशा को देख कर ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य में रहस्यवाद' शीर्षक निबंध लिख कर ऐसे तथा-कथित रहस्यवादों का भंडाफोड़ किया। आज भी रहस्यवाद से संबन्धित रचनाएँ हो रही हैं पर उन्हें महत्व नहीं दिया जा रहा, कारण युग की नवीन चेतना ने मानव की बुद्धि के सम्मुख पड़े हुए भ्रम के आवरणों को हटा दिया है, उसे सृष्टि का रहस्य समझा दिया है, विराट् या ब्रह्म क्या है, इसका ज्ञान करा दिया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आज का जीवन इतना जटिल है कि उसने मानव के सम्मुख अनेक नई और ज्वलंत समस्याएँ खड़ी कर दी हैं जो विराट् व ब्रह्म को जानने की इच्छा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। चारों ओर शोषण का बोलवाला है, संघर्ष की पुकार है, ऐसी दशा में कवि का कर्त्तव्य यह नहीं है कि वह कल्पित वातावरण में घूम-फिर कर विराट् व ब्रह्म का पता लगाये, जनता, जन-जीवन उससे दूसरी ही चीजें माँग रहा है जो उसके लिए अधिक आवश्यक, अधिक सत्य एवं अधिक महत्वपूर्ण हैं। आज की इस स्थिति को देख कर भी जो कवि विराट् एवं ब्रह्म के चक्कर में पड़े हैं वे समाज, युग एवं जनता के साथ विश्वासघात कर रहें हैं, अपने दायित्वों से मुख मोड़ कर, अव्यक्त की गोद में मुँह छिपा कर अपनी कालिमा को बचा रहे हैं, पर जब अव्यक्त के कोई गोद ही नहीं है, वह कुछ है ही नहीं तब कालिमा उभर ही उठेगी। ऐसे कवियों से हमारा निवेदन है कि वे लक्ष्य-भ्रष्ट न हों; युग व समाज को देखें, कविता को लोक-कल्याण का माध्यम बनावें। आज के युग में यही उनका दायित्व है, यही उनका कर्तव्य है, यही उनकी ईमानदारी की पहचान है।

[संकलित]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छायावाद

आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व, युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने बाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर, जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप से अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थियों ने हमारे दर्शन और कर्म को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्हीं ने भाव (सौन्दर्य) वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त यूरोप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था—जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभाव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चंचलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर-काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उड़ने के लिए पङ्ख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूप-रेखा नहीं बन पाई थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं और वहाँ से क्षतिपूर्ति के लिए छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के छाया-चित्रों को काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।

छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और विक्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिए चंचल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिए कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः ही उसकी वृत्ति निकट, यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएँ कठोर वर्त्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्ण-अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं—कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थीं—स्थूल से सहम कर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे पलायन कह कर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव में अन्तर्मुखी भावना ही है। वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृति ही छायावाद की मूलवृत्ति है। उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

व्यक्तिवाद—यह अन्तर्मुखी प्रवृति जिन विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है उनमें सबसे मुख्य है व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद के दो रूप हैं। एक, विषय पर विषयी की मनसा का आरोप अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रंग कर देखना। दूसरा, समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना।

द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। दूसरे, उस कविता का विषय बहिरङ्ग सामाजिक जीवन था। द्विवेदी युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्ति-भाव प्रसाद में आनन्द भाव और निराला में अद्वैतवाद के रूप में प्रकट हुआ। पंत में उसने आत्मरति का रूप धारण किया और महादेवी में परोक्षरति का जो आत्मरति का ही प्रक्षिप्त रूप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शृङ्गारिकता—अन्तर्मुखी प्रवृति की दूसरी अभिव्यक्ति है शृङ्गारिकता। छायावाद की कविता प्रधानतः शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओं से, और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय छायावाद का जन्म हुआ उस समय स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था। परन्तु सुधार-युग की कठोर नैतिकता से सहम कर वह अपने में ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतङ्क अभी इतना अधिक था कि इस प्रकार स्वच्छन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान के अवचेतन में उतर कर वहाँ से अप्रत्यक्ष रूप में व्यक्त होती रहती थीं; और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृङ्गार। छायावाद का यह अतीन्द्रिय शृङ्गार दो प्रकार से व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों द्वारा, प्रकृति पर नारी भाव के आरोप द्वारा। दूसरे, नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।

छायावाद में शृङ्गार के प्रति उपभोग का भाव न मिल कर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कलामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझ कर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के अङ्गों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतङ्क से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए हैं। और वास्तव में छायावाद के झिलमिल काव्य-चित्रों का मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके वायवी रूप-रंग का वैभव उन्हीं से उत्कीर्ण होता है और इन्हीं पर आश्रित होने के कारण छायावाद की काव्य-सामग्री के अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकृति पर चेतना का आरोप—छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राण-तत्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है। यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीप्त वातावरण न मानकर ऐसी चेतन सत्ता माना गया है जो अनादि काल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान-प्रदान करती रही हैं। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रकृति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है; और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया-चित्र उठे उनका चित्रण है। जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोपण करती है वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है; वह मन की कुण्ठित वासना ही है जो अवचेतन में पहुँच कर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान प्रकृति का उपयोग यहाँ दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहलमय जीवन से दूर शान्त-स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवन में नहीं मिल सके वह प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले, अतएव कवि की मनोकामनाएँ बार-बार उसी के मधुर अंचल में खेलने लगीं और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

वास्तव में छायावाद मूलतः भारतीय अद्वैतवाद का ही प्रोद्भास है। महादेवी जी ने छायावाद का मूल दर्शन सर्ववाद अथवा सर्वात्मवाद माना है, और वास्तव में प्रकृति के अन्तर में प्राणचेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है, सनातन से चली आ रही है। छायावाद में समस्त जड़-चेतन को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानव-चेतना से स्पन्दित मान कर अंकित किया गया है, और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। सर्वात्मवाद को छायावादी कवियों ने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों विधियों से ग्रहण किया। आरम्भ में इन कवियों की चिन्ता-पद्धति पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और उधर रवीन्द्रनाथ के दार्शनिक विचारों का सीधा प्रभाव पड़ा। निराला ने विवेकानन्द की कई कविताओं का अनुवाद किया है, रामकृष्ण परमहंस पर भी कविता लिखी है। पंत पर भी इनका गहरा प्रभाव था जो बाद में उन्हें योगी अरविन्द के दर्शन की ओर ले गया। प्रसाद में योग दर्शन तथा उपनिषद् आदि का सम्पर्क था जो क्रमशः घनिष्ठतर होता गया। प्रौढ़ि के साथ यह प्रभाव और भी गहरा हुआ। पंत तथा महादेवी की बाद की रचनाओं में आध्यात्मिक रंग स्पष्टतः आ गया है, उसका निषेध आज सम्भव नहीं है।

परन्तु सर्वात्मवाद को छायावाद का उद्गम-स्रोत मानना संगत नहीं होगा। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की आध्यात्मिक अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ। पल्लव, नीहार, परिमल, आँसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है। छायावाद के कवियों की चेतना में नैतिक और आध्यात्मिक प्रभावों के कारण एक विशेष परिष्कार आरम्भ से ही था। इन कवियों ने कभी अपनी वासना को उद्दाम रूप में व्यक्त नहीं किया—इनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में शालीनता और संयम था। प्रसाद तथा महादेवी ने भारतीय अध्यात्म-दर्शन के सहारे और पंत ने देश-विदेश के विभिन्न दर्शनों के आधार पर अपनी चेतना को और भी परिशुद्ध एवं संस्कृत कर लिया।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में भी कही जा सकती है। बहिरंग जीवन से सिमट कर जब कवि की चेतना ने अन्तरंग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएँ—जीवन और मरण-सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा--सम्बन्धी-काव्य में स्वभावतः ही आ गईं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासाएँ हैं, जो छायावाद के उत्तरार्ध आध्यात्मिक दर्शन के द्वारा और भी पुष्ट हो गईं हैं। परन्तु वे धार्मिक भावना पर आश्रित नहीं हैं। उनका आधार कहीं भावना, कहीं दर्शन-चिंतन और आरम्भ में कहीं-कहीं मन की छलना भी है।

छायावाद के ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में अभिन्न रूप से गुथा हुआ आप को विषाद का नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद संध्या की कालिमा न होकर प्रत्यूष की चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है, पराजय नहीं। नीरजा के विषाद और निशा-निमंत्रण के विषाद की तुलना मेरे आशय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि छायावाद की दुनिया अननुभूत दुनिया थी।

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं - पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के आलोचक इसी भ्रम को पोषण करते हुए उसे कोसते रहे।

छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से—यहाँ तक कि अखण्ड आध्यामिक विश्वास से भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकों को तथातथ्य मानकर उस पर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है। दूसरी भ्रान्ति उन आलाचकों की फैलाई हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण केवल वाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को यूरोप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमांटिक-काव्य के पीछे फ्रांस का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी-काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था। छायावादी की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तमुखी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने, जो छायावाद को शैली का एक तत्त्वमात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेश के अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति छायावाद शैली का एक प्रकार-मात्र है। प्रत्येक सच्ची काव्य-धारा के लिए अनुभूति की अन्तःप्रेरणा अनिवार्य है और जहाँ अनुभूति की अन्तःप्रेरणा है वहाँ काव्य टेकनिक-मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है? छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति की अन्तःप्रेरणा असंदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-पद्धति की विशिष्टता के ही कारण है। निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है। जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। इस दृष्टिकोण का आधेय नव-जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तमुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति हुई है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्वतः सर्वात्मवाद मानी जा सकती है। पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली। जिस कविता ने जीवन के सूक्ष्मतम मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा द्वारा नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक वृहद् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तु-मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म से सूक्ष्म और तरल-से-तरल भाव-वीचियों को पकड़ सके; जिसने जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रङ्गवाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया; जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम कटाक्ष प्रदान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किये; जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमग कर दिया; और अन्त में जिसने कामायनी का समृद्ध रूपक, पल्लव और युगान्त की कला, नीरजा के अश्रु-गीज़ गीत, परिमल और अनामिका की अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है। उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है। [संकलित]

—:०:—

प्रगतिवाद

प्रगतिवाद का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना। जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो वही प्रगतिशील साहित्य है। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो तुलसीदास सबसे बड़े प्रगतिशील लेखक प्रमाणित होते हैं। भारतेन्दु बाबू और द्विवेदी-युग के लेखक, मुख्यतः मैथिलिशरण गुप्त भी इस अथ में प्रगतिशील लेखक हैं। परन्तु आज का प्रगतिवादी इनमें से किसी को भी प्रगतिशील नहीं मानेगा—ये सभी तो उसके मतानुसार प्रतिक्रियावादी लेखक हैं। अतः प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है, परन्तु एक विशेष ढंग से एक विशेष दिशा में। उसकी एक विशिष्ट परिभाषा है। इस परिभाषा का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है, पहिले इसे समझ लें।

इसमें दो शब्द हैं: भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक। भौतिकवाद का सार यह है कि संसार का मूलाधार पंचभूत है—पंचभूत अर्थात् पदार्थ: मैटर। उसके सभी दृश्य, सभी सूक्ष्म-स्थूल रूप पदार्थ से ही बने हुए हैं। शरीर की परिचालिका शक्ति मस्तिष्क है और मस्ष्कि भी शरीर की अन्य इन्द्रियों की भाँति भौतिक ही है। वाह्य-जगत की घटनाओं की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारी इन्द्रियों पर प्रतिक्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक कम्पन होता है। शरीर का वह सूक्ष्मतम और सबसे अधिक विकसित अवयव जो इस कम्पन का अनुभव और समन्वय करता है मस्तिष्क कहलाता है। आत्मा कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है, अधिक से अधिक उसे मस्तिष्क के आगे की एक विकसित अवस्था-मात्र माना जा सकता है। अर्थात् वह भी, अगर है तो, पदार्थ की ही उद्भूति है। परन्तु यह पदार्थ क्रियाहीन या गतिहीन नहीं अपितु स्वभाव से ही गतिशील है और इसमें गति पैदा करने के लिए ब्रह्म के ईक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह तो पदार्थ के अन्तर्गत वर्त्तमान विरोधी तत्त्वों के सतत संघर्ष का सहज परिणाम है। जिस प्रकार जगत को उत्पन्न करने के लिए किसी आधिदैविक शक्ति की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार उसके संरक्षण और विनाश के लिए भी नहीं। क्योंकि जो पदार्थ अपनी परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष के परिणामस्वरूप स्वयं गतिशील है उसमें स्वस्थ रूप का उद्भव और अस्वस्थ रूप का लय आप से आप होता रहता है।

इसलिए विश्व में केवल एक ही सत्ता है—आधिभौतिक। आध्यात्मिक और आधिदैविक सत्ताएँ मन की छलना-मात्र हैं। "संसार किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नहीं, वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्नि-शिखा है जो अंशतः ऊर्ध्व-विकास और अंशतः अधःपतन की ओर उन्मुख है।"

बस, गति की प्रेरक इन्हीं परस्पर-विरोधी शक्तियों के, जो स्वयं वस्तु में वर्त्तमान रहती हैं, संघर्ष या द्वन्द्व का अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है। और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जो जीवन को एक ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता मानता है जिसके मूल में विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है। इन विरोधी शक्तियों में निश्चय ही एक विनाशक के पथ पर होगी, दूसरी उत्थान के पथ पर। चेतन मस्तिष्क का कार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यही है कि इस तत्त्व को ढूँढ़ निकाले और प्रगतिशील शक्तियों को सहायता तथा विशेषोन्मुख शक्तियों का, जो अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए व्यर्थ ही छटपटा कर विकास या प्रगति में बाधा डालती हैं, बलपूर्वक नाश करे।

इस प्रकार, जगत का एकमात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। उसी का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है, अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की खोज में भटकना पलायन है। और इस भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था है समाज, जिसका आधार है अर्थ। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्रगतिवादी केवल अर्थ का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। काम को वह अर्थ के आश्रित मानता है और धर्म को भी भौतिक अर्थ में जीवन की विधि-मात्र मानते हुए अर्थ के ही आश्रित मानता है। मोक्ष को आध्यात्मिक अर्थ में वह एकदम अस्वीकृत कर देता है।

आज के समय में दो विरोधी शक्तियाँ हैं—पूँजीवाद और साम्यवाद। पूँजीवाद, जिसका साम्राज्यवाद भी एक अंग है, विनाशोन्मुख, और साम्यवाद विकासोन्मुख। निदान प्रगतिवादी साम्यवाद का पोषक है और पूँजीवाद का शत्रु। बल्कि यों कहिये कि प्रगतिवाद साम्यवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। साहित्य सामाजिक कर्म-विधान का एक सक्रिय अंग है। अतएव उसे समाज-व्यवस्था के संरक्षण में वांछित सहयोग देना चाहिए। हमारे समाज की जागृत शक्तियाँ वे लोग हैं जो अबतक दलित और शोषित रहे हैं। प्रगतिवादी साहित्य उनकी सहायता करता है, उनके पक्ष में आन्दोलन करता है, उनकी शक्ति को संगठित करता है, उनकी पीड़ा को मुखर करता है और उन पर होनेवाले अत्याचार का तीव्र विरोध करता है। इस प्रकार उसके अन्तर्गत मानववाद; क्रांति और विशेष परिस्थितियों में—जैसे पराधीनता में अथवा बाहर से हमला होने पर—देश-भक्ति भी आ जाती है, यद्यपि उनमें से कोई भी उसका अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

साम्यवाद से सहज सम्बन्ध होने के कारण प्रगतिवादी साहित्य को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख्यतः सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है वैयक्तिक नहीं। जिस प्रकार साम्यवाद समष्टि या समूह के हितों की चिन्ता और रक्षा करता है, व्यक्ति के नहीं, उसी प्रकार प्रगतिशील साहित्य समाज के सुख-दुख की अभिव्यक्ति को ही महत्त्व देता है, व्यक्ति के सुख-दुख की अभिव्यक्ति को नहीं। अर्थात् प्रगतिशील लेखक की भावना सामाजिक भावना है, व्यक्तिगत नहीं। वह सौंदर्य को अपने हृदय या दूसरे की आँखों में देखने की अपेक्षा सामाजिक स्वास्थ्य में देखता है। अपनी ही समस्याओं और भावनाओं में उलझे रहना—व्यक्ति को समष्टि से पृथक् देखने का प्रयत्न—मिथ्या है; और साथ ही एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का समाजीकरण है।

इस प्रकार, दृष्टिकोण बदल जाने से आदर्श और मूल्यों का भी बदल जाना अनिवार्य है। गत युग में जो सत्य-शिव-सुन्दर था वह आज विपरीत अर्थ रखता है। अब तो हमारे मूल्यों का माप केवल एक ही है—जनहित। आज सत्य से तात्पर्य है भौतिक वास्तविकता, शिव का अर्थ है भौतिक जीवन—सामाजिक स्वास्थ्य—में सहायक होने वाला, और सुन्दर का आशय है स्वाभाविक एवं प्रकृत। पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार और संस्कार माना जाता था, परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक ही नहीं हानिकर भी समझा जाता है। फ्रायड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़ कर उसकी तह में छिपी हुई कुत्साओं का प्रदर्शन किया। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव-प्रवृत्तियों को—जिनमें मुख्य क्षुधा और काम हैं—प्रकृत रूप में व्यक्त करने से नहीं घबराता—

धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्छल चुम्बन
अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर!
क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान,
नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण!!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार के साथ अभिव्यंजना भी बदली। सबसे पहिले तो कला के प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया—

'ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।' अबतक काव्य के आलम्बनों में जिस प्रकार प्रकृत, अनगढ़ एवं लघु का तिरस्कार और सुन्दर, मनोरम एवं महत् का ही ग्रहण होता था, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के उपकरणों में भी। प्रगतिवाद ने कहा कि यह अन्तर काल्पनिक है। जीवन में सब-कुछ केवल सूक्ष्म, सुगढ़ और कोमल ही नहीं है; उसमें स्थूल, दृढ़ और अनगढ़ भी है और जो शायद अधिक उपयोगी है। स्वस्थ जीवन-दर्शन वही है जो उसकी वास्तविकता को स्वीकार करे—जीवन को उसके सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करे। रूप-मोह या मानसिक विलास में पड़कर जीवन के उन स्वस्थ उपादानों का, जिनका वाह्य प्रकृत और अनगढ़ है, तिरस्कार करना क्षयी मस्तिष्क का काम है। इसलिए प्रगतिवादी ने अपनी अभिव्यक्ति के उपकरण आग्रह-पूर्वक साधारण-स्वस्थ जन-जीवन से ग्रहण करना आरम्भ किया। वह अपने काव्य-चित्रों का आधार नित्य-प्रति के व्यवहार को बनाता है। उसकी अलंकरण-सामग्री सूक्ष्म, कोमल या चुनी हुई नहीं है, वह स्थूल और प्राकृत है। एक शब्द में, उसकी कला विलास, रूप-रङ्ग और रोमांस से प्रेम नहीं करती। इसी तरह प्रगतिवाद की शब्द-योजना में भी प्राकृत जन-जीवन का अनगढ़पन मिलता है, रीतिकाल की पालिश और छायावाद की अमूर्त्त मधुचर्य्या नहीं। अतएव प्रगतिवादी अभि-व्यक्ति खरी, खड़ी और तीखी होती है—क्योंकि वह मुख्यतः भावात्मक न होकर आलोचनात्मक है।

सारांश यह है कि प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का नाम है, जिसके मूल तत्त्व ये हैं :—

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—केवल भौतिक विधान की मान्यता, ईश्वर और आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साम्यवाद (जिसके मूल में मानववाद भी अन्तर्निहित है)—साम्यवाद का समर्थन; पूँजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति।

राष्ट्रीय भावना —प्रगतिवाद के अन्तर्गत राष्ट्रीयता का भी समावेश है, परन्तु वह साधारण दक्षिण-पक्षीय राष्ट्रीयता से भिन्न है। पराधीनता के उन्मूलन आदि प्रश्नों पर प्रगतिवादी शक्तियों का लक्ष्य भी वही है जो दक्षिण-पक्षीय शक्तियों का, परन्तु उनकी विधि में अन्तर है। इनकी विधि पूर्णतः क्रांति की विधि है जिसका एकांत भौतिक है। वह अहिंसादि आदर्शमय साधनों को कोई मान्यता नहीं देती। इसके अतिरिक्त प्रगतिवाद में राष्ट्र केवल सर्वहारा वर्ग का प्रतीक है, अन्य वर्गों के प्रति उसे सहानुभूति नहीं है। अतएव प्रगतिवाद का राष्ट्रवाद सर्वहारावाद अथवा जनवाद का ही पर्याय है।

प्रगतिवाद को प्रभावित करने वाली शक्ति मुख्यतः कार्लमार्क्स है, और किन्हीं अंशों में डारविन और फ्रायड भी। और, इसकी अभिव्यक्ति भावात्मक की अपेक्षा बौद्धिक अर्थात् आलोचनात्मक अधिक है। प्रगतिवाद के एकाध नादान दोस्त की मोटी अक्ल में फ्रायड का महत्व नहीं बैठ पाता पर इससे फ्रायड का कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। जीवन के भौतिक—बौद्धिक मूल्यों की प्रतिष्ठा में फ्रायड का योग मार्क्स से कम नहीं है।

यह हुआ प्रगतिवाद का तात्त्विक विश्लेषण। परन्तु उसके ये सभी सिद्धांत निर्विवाद स्वीकार नहीं किये जा सकते — उन पर कुछ मूलगत आक्षेप सरलता से हो सकते हैं।

पहला आक्षेप तो यह है कि प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकुचित है: जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या संगत नहीं। इस विषय में सीधी युक्तियों की अपेक्षा एक निषेधात्मक युक्ति अधिक सफल होगी। मार्क्सवादियों ने मानव इतिहास की जो आर्थिक व्याख्या की है वह अधूरी और अनेक स्थानों पर असंगत एवं अविश्वसनीय है। उदाहरण रूप में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काडवेल की 'इल्यूज़न एण्ड रियैलिटी' पुस्तक के उस सुन्दर एवं महत्वपूर्ण परिच्छेद की ओर संकेत किया जा सकता है जिसमें वे अङ्गरेजी साहित्य के इतिहास का विवेचन करते हुए केवल उन्हीं मोटी-मोटी बातों को ले सके हैं जो उनका प्रयोजन सिद्ध करती हैं। अङ्गरेजी-साहित्य की अनेक सूक्ष्म और उलझी हुई प्रवृत्तियों को उसने बिल्कुल छोड़ दिया है। मेरी अपनी बौद्धिक सीमाएँ हो सकती हैं; परन्तु मुझे यह सचमुच हास्यास्पद लगता है कि जहाँ फ्रायड—जैसे अतलदर्शी मनोवैज्ञानिक मानव-मन की परीक्षा करते हुए अंत में नेति-नेति कह देते हैं वहाँ मार्क्स का साधारण अनुयायी भी सिर्फ पैदावार की बातचीत करता हुआ उसके अंतिम सत्यों तक झट से पहुँच जाता है। यह विश्वास और उत्साह स्तुत्य होने पर भी बुद्धि संगत नहीं है।

दूसरा आक्षेप यह है कि साहित्य अपने मूल रूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं है, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकता है। मनुष्य पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई; और उसका पहला रूप ही मौलिक रूप है। अतएव साहित्य अपने वास्तविक रूप में जीवन के प्रति व्यक्ति की अथवा अनात्म के प्रति आत्म की प्रतिक्रिया ही है, अर्थात् साहित्य वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति ही है। हमारे आत्म या व्यक्तित्व की दो प्रवृत्तियाँ हैं: अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति बहिरंग को अपने अंदर खींचती हुई गहरी अथवा घनीभूत होती रहती है; बहिर्मुखी प्रवृत्ति अन्तरंग का बाहर प्रसार करती हुई व्यापक होती रहती है। मनुष्य में संस्कार और परिस्थिति-वश इनमें से एक का प्राधान्य हो जाता है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि वह जीवन की भावगत व्याख्या है। वह जीवन की अन्तर्मुखी साधना है। अतः स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह संसार में जितना महान् होगा उसका अहं उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः समाजीकरण असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। संसार में ऐसा महान् साहित्यकार विरला ही होगा जिसने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी अपरागत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इकबाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान् है वह उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है; साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं। महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणों की सृष्टि है। और यह असाधारण प्रतिभा समाज या समूह से, जिसका कि अधिकांश साधारण प्रतिभा और शक्तिवाले लोगों से बना हुआ है, सहानुभूति रखती हुई भी—और यह भी सर्वथा अनिवार्य नहीं—अपनी चेतना को उसमें लय नहीं कर सकती। उसकी अपनी चेतना समाज से बहुत कुछ ग्रहण करती हुई भी सृजन के अर्ध-चेतन क्षणों में वनस्पति से ढकी हुई चिनगारी की तरह प्रज्वलित हो उठेगी।

वास्तव में अपने मूल रूप में जीवन का एक दृष्टिकोण होते हुए भी व्यावहारिक रूप में प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक विचार-धारा का ही उच्चार है जो बलपूर्वक साहित्य द्वारा अपनी प्रत्यक्षाभिव्यक्ति चाहता है। इसलिए उसमें प्रायः वही सामयिक उत्साह और प्रचार-भावना मिलती है जो सम्प्रदायों में सर्वत्र पायी जाती है। अतः जहाँ तक ये लोग अपनी बात कहते हैं हम उसे आवश्यक काट-छाँट के बाद आसानी से ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु जब अपनी उस अन्तिम मार्क्सवादी कसौटी पर ये लोग अपर साहित्य को कसते हैं तो इनके परिणाम सर्वथा भ्रामक और अन्यायपूर्ण होते हैं। मार्क्सवाद एक नवीन और काफी स्वस्थ जीवन-दर्शन है : साहित्य पर उसके द्वारा नवीन प्रकाश पड़ रहा है। परन्तु उसकी उपादेयता व्याख्या तक ही सीमित है : उसके द्वारा किया हुआ मूल्यांकन एकांगी होता है। मुझे सबसे पड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से ही है : वह साहित्य और पैदावार का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे रोटी-पानी या जीवन के सामयिक प्रश्नों को हल करने का सीधा साधन मान कर बहुत ही सस्ता बन देता है।

आदिकाल से ही मानव-मन अनेक जीवन-दर्शनों का आविष्कार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता रहा है। परन्तु उसके सभी प्रयत्नों का ध्येय रहा है केवल आनन्द की प्राप्ति। साहित्य भी आनन्द प्राप्ति का एक प्रयत्न है, किन्तु यह प्रयत्न स्थूल और प्रत्यक्ष नहीं है। सुख के लिए किए हुए मानव प्रयत्नों में साहित्य अत्यन्त सूक्ष्म, परिष्कृत और मधुर प्रयत्न है। आध्यात्मिक चिन्तन इससे भी सूक्ष्म है, पर वह इतना मधुर नहीं है। साहित्य की साधना और सिद्धि दोनों में ही आनन्द है। अतएव आनन्द को छोड़ और कसौटी मानना हमारी समझ में नहीं आता। जीवन के मूल्य चिरन्तन ही मानने पड़ेंगे। क्योंकि जीवन चिरन्तन है, जीवन की मौलिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं। कम-से-कम मानव-सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक तो चिरन्तन ही चली आयी हैं।

चिरन्तन शब्द का कोई काव्यमय अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। चिरन्तनता अन्त में जाकर एक सापेक्षिक गुण सिद्ध होती है जिससे स्थायित्व का चरम आधिक्य और परिवर्त्तनशीलता की चरम न्यूनता का ही अभिप्राय है। आज भी हमें वाल्मीकि और होमर की कविताएँ अनेक सामयिक कविताओं से कहीं अधिक आनन्द देती हैं, उनकी प्राणवत्ता अब भी ज्यों-की-त्यों है। इसका कारण यही है कि मानव-मन में कुछ ऐसे गुण हैं जो देश-काल के परिवर्त्तनों के बीच भी बने रहते हैं। मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि ये गुण और कुछ नहीं मानव-जीवन की मूल वृत्तियाँ ही हैं। देश-काल का प्रभाव इन पर इतना ही पड़ता है कि किसी विशेष परिस्थिति में कोई विशेष मनोवृत्ति बल-पूर्वक एक विशेष रूप में अपने-आपको अभिव्यक्त करे। स्वयं साम्यवाद उस आदिम मानव-वृत्ति प्रेम में मिल जाता है। आज जो हम सब को अथवा उन व्यक्तियों को भी जो स्पष्ट रूप से पूँजीवादी हैं सुन्दर प्रगतिशील कविता प्रिय लगती है, इसका एकमात्र कारण यही है कि घोर-से-घोर पूँजीवादी और उतने ही कट्टर साम्यवादी दोनों के अंतरतम में कुछ तार ऐसे हैं जो एक सामान्य अनुभूति से झंकृत होकर वाह्य-भेदों की अवहेलना करते हुए बरबस मिल जाते हैं। वह सामान्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुभूति है मानववाद जिसका दार्शनिक नामकरण चाहे कभी हुआ हो पर जो अपने मूल रूप में प्रेम का एक प्रस्फुटन होने के कारण अनादि काल से चला आ रहा है। हम में से अधिकांश के हृदय को साम्यवाद का विज्ञान स्पर्श नहीं करता—उसकी मूलवर्त्तिनी मानव-कल्याण या पारस्परिक सहानुभूति की भावना ही स्पर्श करती है।

सारांश यह है कि साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी जो अब तक चली आई है वही ठीक है—अर्थात् आनन्द। साहित्य की सृजन-क्रिया स्वयं साहित्यकार को आनन्द देती है और उसके व्यक्त रूप का ग्रहण पाठक या श्रोता को आनन्द देता है। हमें जो साहित्य जितना ही गहरा और स्थायी आनन्द दे सकेगा उतना ही वह महान् होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धांत का—साम्यवाद, गांधीवाद, मानववाद, पूँजीवाद, किसी भी वाद का समर्थन हो या विरोध।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पूँजीवाद की जो प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः मानव-हित में घातक हैं उनका समर्थन कैसे श्रेयस्कर हो सकता है। पर इसका उत्तर सरल है। पहले तो यह अनुचित समर्थन मानव-मन को आनन्द देने में ही असमर्थ होगा; और यदि समर्थ होगा भी तो लेखक की अनुभूति की तीव्रता और आत्माभिव्यक्ति की निष्कपटता के कारण ही। आप कह सकते हैं कि वह गलत रास्ते पर है, लेकिन उसकी ईमान-दारी और ताकत की दाद आपको देनी ही होगी। इसी उलझन को सुलझाने के लिए तो पुराने आचार्य ने रसानुभूति को अलौकिक कहा था। वह वेचारा यही कहना चाहता था कि इस प्रकार के लोक-प्रचलित अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है। काव्य रसात्मक है—सदैव रहा है और आशा यही है कि रहेगा भी। जिसमें रस नहीं है वह अपने (उच्च) सिद्धान्तों या किसी भी अन्य कारण से काव्य से भी ऊँची वस्तु हो जाय पर काव्य नहीं हो सकता।

अतएव, जहाँ तक व्याख्या का सम्बन्ध है, मार्क्सवाद ने हमें एक नया मार्ग दिखाया है और उसके लिए हम कृतज्ञ हैं। परन्तु एक तो यह मार्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तिम—एकमात्र मार्ग नहीं है। फ्रायड आदि द्वारा प्रदर्शित अन्य मार्ग कम उपयोगी नहीं। दूसरे, यह एक परीक्षण-विधि मात्र है, मूल्यांकन की कसौटी नहीं। इस नयी विधि का प्रयोग हमें रस-परीक्षण के ही लिए, इसकी सीमाओं को स्वीकार करते हुए करना चाहिये। साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र का ही, जो मनोविज्ञान का ही एक अङ्ग है, अधिक विश्वास करना उचित होगा।

एक और आक्षेप जो प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तों पर किया जा सकता है यह है कि इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्मविसर्जन नहीं है जो काव्य के लिए अनिवार्य है। अस्तु।

हिन्दी कविता में प्रगतिवाद का आविर्भाव पिछले ८-१० वर्ष में ही हुआ है। यह एक विचित्र संयोग है कि हिन्दी में प्रगतिवाद का भी सबसे पहला कवि, जिसने उसे गौरव दिया, वही व्यक्ति है जो छायावाद का भी एक प्रमुख प्रवर्त्तक था। मेरा आशय कवि पंत से है। पंत के सहयोग में नरेन्द्र ने भी 'पलाशवन', 'मिट्टी और फूल' आदि में अनेक प्रगतिशील कविताएँ लिखीं। परन्तु पंत जी के मानसिक जीवन के विकास में युगवाणी और ग्राम्या का सृजन-काल का संस्थान मात्र था। अन्ततः स्थूल भौतिक दर्शन पंत का मनः परितोष नहीं कर सका और वे जीवन के सूक्ष्म आध्यात्मिक मूल्यों के देश में फिर लौट गये। जीवन में स्थिरता आने के साथ नरेन्द्र का भी जीवन-दर्शन बदल गया है।

उधर अंचल ने भी 'मधूलिका' और 'अपराजिता' की रंगीन कविताओं के बाद 'करील' आदि में ऐसी कविताएँ लिखीं जो इसी वर्ग में आती हैं। शिवमंगल सिंह 'सुमन' की अनेक रचनाओं में भी प्रगतिवाद का गहरा रंग रहा। इधर नागार्जुन आदि इस प्रकार की रचनाएँ कर रहे हैं।

चौंकने की बात नहीं, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी में शुद्ध प्रगतिशील रचनाएँ तो मिल जायँगी, परन्तु इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को सर्वथा ग्रहण कर लेने वाला पूर्णतः प्रगतिशील कवि या लेखक अभी सामने नहीं आया। लेकिन ऐसा कहना, हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य का तिरष्कार करना नहीं है। एक तो उसका इतिहास ही ८-१० वर्षों में सिमटा हुआ है। दूसरे अन्य देशों में भी, शायद रूस को छोड़ कर, आलोचना ही अधिक है सृजन कम। हिन्दी में भी स्वभावतः आलोचना ही अधिक है और इसके कई कारण हैं :—

(१) हिन्दी-कवियों का दृष्टिकोण अभी वैज्ञानिक अर्थात् भौतिक एवं बौद्धिक नहीं बन पाया। अभी वह अधिकांश में भाव-प्रधान है। आत्मा का मोह भी ये कवि नहीं छोड़ पाये हैं। इसलिए हिन्दी-साहित्य में मानववाद या क्रांति-भावना ही मुख्य है, वैज्ञानिक साम्यवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बहुत कम।

(२) हिन्दी में अभी सामाजिक चेतना इतनी प्रबल नहीं हुई है कि व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ उसमें लय हो जायँ। अभी अधिकांश कवियों में वैयक्तिक गीत-तत्व की प्रचुरता है।

(३) हिन्दी में जिन प्रवृत्तियों ने छायावाद को जन्म दिया उनको पूरी तरह अभिव्यक्त होने का अवसर नहीं मिल पाया। कुछ तो एक साथ बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति और कुछ प्रोपेगैण्डा के परिणाम-स्वरूप वे प्रवृत्तियाँ एक साथ समय से पहले ही दब गयीं। प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंट कर ही खड़ा हुआ। कामायनी, तुलसीदास और अनामिका—उधर युगवाणी के रचना-काल में कोई विशेष अन्तर नहीं हैं। आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं—अतएव यह स्वाभाविक है कि इनकी ओर पूरी-पूरी कोशिश होने पर भी वह नयी रोमांस (?) बार-बार उभर आता है। अब भी ये प्रायः वहीं उस मधु-माधव के उपवन में पलायन कर जाते हैं। दिनकर की रसवंती, अंचल की मधूलिका और अपराजिता, नरेन्द्र की कामिनी और स्वयं पन्त की ग्राम्या में संकलित अनेक कविताएँ मेरे कथन की पुष्टि करेंगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर हैं जो उनकी प्रेरणा का मूल स्रोत है। उनके सिद्धांत पढ़ कर और मनन कर प्राप्त किये हुए हैं, सह कर और भोग कर नहीं। केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हजारों मील दूरी पर लड़ने वाली लाल सेना के अभियान गीत लिखने वाले इन लेखकों की रचनाएँ स्वभावतः ही प्राणवान कैसे हो सकती हैं ?

तभी भारतीय जीवन में गांधीवाद और साम्यवाद का संघर्ष चल रहा है। गांधीवाद का भारत के संसारी हृदय पर गहरा प्रभाव है। गत दशाब्दी के पूर्वार्ध में राजनीतिक तथा अन्य कारणों से उसके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया हुई जिसका वेग युद्ध के दिनों में और भी बढ़ गया था। परन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत और विशेष कर गांधी के महाबलिदान के पश्चात् उसका जोर बहुत ही कम हो गया है। आजकल स्वयं प्रगति वर्ग में भी मौलिक मतभेद उत्पन्न हो गये हैं। स्वभावतः आज प्रगतिवाद की स्थिति अत्यन्त अस्थिर है। उसकी परिधि में सत्साहित्य की सृष्टि अत्यत्त अस्थिर है। भारत में प्रगतिवाद का भविष्य साम्यवाद के साथ बँधा हुआ है; लेकिन फिर भी आधुनिक काव्य के अध्येता को आदर और धैर्यपूर्वक उसका अध्ययन करना होगा। उसने हिन्दी काव्य को एक जीवन्त चेतना प्रदान की है; इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

[संकलित]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा

आधुनिक हिन्दी कविता की एक अत्यन्त प्रबल प्रवृत्ति उन कविताओं में मिलती है जो देशभक्ति का उच्चार हैं। छायावाद में जहाँ गाँधीवाद का सौंदर्य्य-चिंतन पक्ष मिलता है, वहाँ इन कविताओं में उसके भावात्मक और क्रियात्मक रूप की अभिव्यक्ति मिलती है।

इन कविताओं की मूल-भावना है देश-भक्ति। देश-भक्ति में प्राधान्य तो निस्संदेह "उत्साह" का ही है परन्तु उसमें राग का आधार भी वर्त्तमान है। देश-भक्ति व्यक्ति-परक न हो कर एक समष्टि-परक भाव है। वह वास्तव में स्व का विस्तार ही है, उसका निषेध नहीं है—देश-भक्ति में स्व का वृत्त समग्र देश और उसके निवासियों तक विस्तृत हो जाता है। इस विस्तार-प्रक्रिया में राग के साथ उत्साह का मिश्रण भी हो जाता है। देश-भक्ति में राग उत्साह के साथ मिलकर उदात्त रूप धारण कर लेता है।

हिन्दी में देशभक्ति की कविता का पृष्ठाधार अत्यंत विस्तृत है। वैसे तो मध्ययुग के विदेशी आक्रान्ता के विरुद्ध प्राणों पर खेल कर लड़ने वाले राजपूत वीर-जहाँ तक कि वे अपने राज्य की रक्षा के संकुचित उद्देश्य से नहीं लड़ते थे, निस्संदेह ही देशभक्त कहे जा सकते हैं, और उनकी इस उदात्त भावना का यशोगान करने वाली वीर-गाथा-काल की कुछ कविता निश्चय ही देशभक्ति की कविता की कोटि में आती हैं, परन्तु उस युग में एक तो यह भावना अत्यंत विरल है, दूसरे यह देश-भक्ति के वर्त्तमान स्वरूप से भी अत्यंत भिन्न है। शौर्य्य अथवा वीर-भाव का प्रत्येक रूप देश-भक्ति के अन्तर्गत नहीं आता। वीर-गाथा-काल के राजपूत राजाओं और सामन्तों का शौर्य्य प्रायः वैयक्तिक शौर्य्य ही था, वह अपने व्यक्तिगत गौरव अथवा अपने राज्य या अपने राजा के निमित्त प्रदर्शित किया जाता था। उस युग में देश एक इकाई नहीं था, राज्य ही एक इकाई था। राज्य से बृहत्तर एक और इकाई थी—वह थी धर्म जो कभी कभी भिन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भिन्न राजाओं को एक ध्वजा के नीचे संघटित कर सकती थी, परन्तु देश जैसी कोई संघटित इकाई नहीं थी। कहने का तात्पर्य्य यह है कि उस युग में राष्ट्रियता की भावना हिन्दुत्व से आगे नहीं बढ़ सकी थी और उसका यह रूप शताब्दियों तक ऐसा ही बना रहा। छत्रशाल और शिवाजी में भी राष्ट्रीयता का अर्थ हिन्दुत्व ही था। भूषण और लाल की कविता में देश-भक्ति के इसी रूप को वाणी दी गई है। परन्तु यह भावना भी कुल मिलाकर इतनी विरल थी कि रीतियुग में शृङ्गार की सहस्रधारा में तुरंत ही विलीन हो गई, और पूरे दो सौ वर्षों तक फिर उसका कोई चिह्न नहीं मिला। आधुनिक राष्ट्रियता का प्रथम उत्थान हमें सन् ५७ के विद्रोह में मिलता है। अंगरेज़ शासक के विरुद्ध हिन्दुस्तान की संगठित राष्ट्र-भावना का वह प्रथम आह्वान था और तभी से हमारी राष्ट्रीयता का जयनाद आरम्भ हो गया। अब पहली बार प्रदेश अथवा धर्म-सम्प्रदाय के संकुचित वृत्त से निकल कर राष्ट्रीयता ने समग्र देश को अंतर्भूत कर लिया। हिन्दी-काव्य में यह युग भारतेंदु युग के नाम से प्रसिद्ध है। भारतेन्दु के समय तक सन् ५७ का गदर तो विफल हो चुका था परन्तु वह अपने पीछे एक राष्ट्रीय चेतना छोड़ गया था जिसका प्रभाव उस युग के विचारवान व्यक्तियों पर पड़ रहा था। फिर भी उस युग की देशभक्ति और राजभक्ति में एक प्रकार से समझौता था। विदेशी की दासता आत्म-सम्मान के लिये अत्यंत घातक थी। प्रत्येक मनस्वी भारतीय को इसकी आंतरिक ग्लानि थी। इस प्रकार देश में पुनरुत्थान का एक आन्दोलन शुरू हो गया था — राजा राममोहन रॉय, स्वामी दयानन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति लोक नायक जिसका नेतृत्व कर रहे थे। सामाजिक और सांस्कृतिक परतंत्रता के विरुद्ध जनमत जगाकर ये धर्मनायक राजनीतिक परतंत्रता के बन्धनों को शिथिल कर रहे थे। उत्तर मध्ययुग की चेतना और इस चेतना में थोड़ा बहुत साम्य अवश्य था—दोनों में हिन्दुत्व की प्रबल चेतना थी—परन्तु दोनों का अन्तर भी अत्यन्त स्पष्ट है। शिवाजी और भूषण की हिन्दू-भावना जहाँ सर्वथा सामन्तवादी थी, वहाँ दयानन्द और राममोहन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राय की हिन्दू-भावना का स्वरूप सांस्कृतिक एवं सामाजिक था। शिवाजी और भूषण को जहाँ हिन्दू राज्य की चिन्ता थी, वहाँ दयानन्द को प्राचीन हिन्दू (आर्य) संस्कृति की पुनः स्थापना का आग्रह था। दयानन्द को भारतभूमि के प्रति अगाध प्रेम था; इसके अतिरिक्त भारत से उनका तात्पर्य काश्मीर से कन्याकुमारी और सीमाप्रदेश से आसाम तक विस्तृत समग्र देश का ही था। परन्तु इस देश को वे आर्यों (हिंदुओं) का ही देश मानने को तैयार थे और आर्येतर जातियाँ और उनके धर्म तथा संस्कृतियाँ उनकी दृष्टि में भारत के लिये विदेशी थीं। वे आर्यध्वज के नीचे ही समग्र भारत की एकता की कल्पना कर सकते थे। भारतीय संस्कृति का अर्थ उनकी दृष्टि में अमिश्र आर्य संस्कृति ही था। इस प्रकार इस युग की राष्ट्रियता मूलतः हिंदू (आर्य) राष्ट्रियता थी, परन्तु उसका स्वरूप पहले से अधिक व्यापक एवं संस्कृत था, उसमें हिन्दू-राज्य से वृहत्तर हिंदू-संस्कृति की एकता—अखंडता अंतर्भूत थी। इस युग की देशभक्ति के अंतर्गत (१) प्राचीन आर्य गौरव—वेद, शास्त्र, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, चन्द्रगुप्त, अशोक आदि का गौरव-गान; (२) विदेशी संस्कृति और सभ्यता के प्रति घृणा; और इधर (३) वर्त्तमान अधःपतन विशेषतः सामाजिक अधःपतन, उदाहरण के लिये अनाचार, अशिक्षा, वर्णाश्रम की अव्यवस्था, अछूत और स्त्रियों की हीनावस्था के प्रति चिंता और विद्रोह आदि का समावेश था। उस समय भी एक ऐसी चिंतन-धारा का आविर्भाव हो गया था जो समन्वय पर बल देती थी। इसमें हिन्दू, सिख, मुसलमान, पारसी और क्रिस्तान सभी धर्मों और सम्प्रदायों के लोगों के लिये स्थान था, यह भारत को इन सभी की मातृ-भूमि मान कर एक विदेशी राज्य के विरुद्ध संयुक्त मोरचा बनाने का प्रयत्न कर रही थी। इस चिंताधारा की प्रतीक थी इंडियन नेशनल कांग्रेस; परन्तु अभी इसमें पर्याप्त शक्ति नहीं आई थी। अभी भारतीयता का वह अमिश्र रूप ही अधिक प्रभावशाली था। भारत में राष्ट्रियता के द्वितीय उत्थान का सारतः यही स्वरूप था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्रियता के तृतीय उत्थान में कांग्रेस ने शक्ति प्राप्त कर ली थी और उसका नेतृत्व गाँधी जी के हाथ में आ गया था। यहाँ राष्ट्रियता का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो गया था। राष्ट्र अब प्रादेशिकता, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता आदि से ऊपर सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की एक संगठित इकाई बन गया था और उसका राजनीतिक रूप भी स्पष्ट हो गया था। राजनीतिक चेतना सामाजिक तथा सांस्कृतिक चेतना से आगे बढ़ गई थी।

स्वाधीनता का घोषणा-पत्र राष्ट्रियता का वास्तविक स्वरूप है और आज भी अनेक समताओं और विषमताओं के रहते हुए भी उसका यही रूप बना हुआ है। हाँ, स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले और उसके बाद की देश-भक्ति में पराजय और विजय का स्वर वैषम्य स्पष्ट है, और वह स्वाभाविक भी है।

पराधीनता और दमन के विरुद्ध संघर्ष—इस उत्साह का सबसे प्रबल विस्फोट पराधीनता और दमन के विरुद्ध संघर्ष में मिलता है। इस लौह-शृंखला को प्राणों की बलि देकर भी छिन्न-भिन्न करना होगा, भारत की आत्मा मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, निराला, सुभद्रा कुमारी चौहान, दिनकर तथा सोहनलाल द्विवेदी आदि के स्वर में चीत्कार कर उठी। इन कवियों की वाणी में देश के उद्दीप्त यौवन की पुकार है। इन स्वरों में देश का आहत अभिमान जैसे बौखला उठा है।

उत्साह का अहिंसक रूप—इस कविता की वीर-भावना में प्राचीन कविता की वीर-भावना से एक अत्यंत स्पष्ट अन्तर है और वह यह कि इसमें विरोधी का संहार करने का उत्साह नहीं है। इसमें आक्रमण की भावना न होकर बलिदान की भावना है, और मूलतः अहिंसा का प्रभाव है। इस युग की राष्ट्रीय कविता का यह एक सार्वभौम भाव है। भूषण और लाल जहाँ शिवाजी तथा छत्रशाल के विजय-पराक्रम का गौरव-गान करते हैं, उनके द्वारा शत्रु के संहार तथा दमन के उल्लास और गर्व-भरे चित्र अंकित करते हैं, वहाँ माखनलाल चतुर्वेदी 'बलि-शाला ही हो मधुशाला' का तराना छेड़ते हैं, शीशदान की महिमा गाते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, नवीन, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, शिवमंगल सिंह, 'सुमन' सभी ने देश-भक्ति के प्रसंग में प्राणदाण का महत्व गान किया है।

वास्तव में अहिंसा वीरता का उज्ज्वलतम रूप है, और गाँधी जी से बड़ा वीर इस युग ने उत्पन्न नहीं किया। दूसरे, राजनीतिक परिस्थितियाँ भी शीशदान के इस महत्व के लिए उत्तरदायी हैं। भौतिक बल से आत्मिक बल का प्रभाव कहीं अधिक है यह समझने में भारत जैसे देश को देर नहीं लगी, और वह मार कर नहीं मर कर विजय प्राप्त करने के लिए उत्साहित होने लगा। इस प्रकार आधुनिक देश-भक्ति की कविता में क्रोध नहीं है आक्रोश है। फलतः इस वीर रस का सहचारी करुण है, रौद्र नहीं।

इसके उत्साह का एक रचनात्मक रूप भी था जो भारत के उत्कर्ष—उसके स्वर्णिम भविष्य के भावन में अभिव्यक्त होता था। स्वतन्त्रता से पूर्व हिन्दी के राष्ट्रीय कवियों ने भारत के मुक्ति-स्वर्ग के अगणित चित्रों द्वारा जनता के विषाद-संकुल मन में स्फूर्ति और उत्साह भर कर राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण योग दिया। एक ओर जहाँ उन्होंने वर्तमान के रौरव चित्र अंकित किये, वहाँ दूसरी ओर उनके परिमार्जन के लिए भविष्य की उज्ज्वल कल्पनाएँ कीं। इन कविताओं में सात्विक गर्व और ओज है—खोये हुए स्वातन्त्र्य और गौरव को प्राप्त कर देश फिर से महिमामंडित हो जायेगा जब वह भूमि अपनी होगी और आकाश भी अपना ही होगा। इन कविताओं में ध्वंस के स्थान पर निर्माण के भव्य चित्र हैं। इनके द्वारा देश के नवयुवकों को निराशा और विषाद का परित्याग कर कर्मण्यता की प्रेरणा मिली। इन कविताओं का आधार आस्तिकता है, अतएव इनमें आग और गरल नहीं है एक भव्य दीप्ति है।

देशभक्ति का रागात्मक स्वरूप:—देश के साथ रागात्मक सम्बन्ध दो रूपों में सम्भव है। इनमें सहज रूप तो वह है जिसमें देश का अर्थ होता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देशवासी। इसके अनुसार देश-प्रेम का अर्थ है देशवासियों के प्रति प्रेम, देश की पराधीनता और शोषण का अर्थ है राजनीतिक और आर्थिक शोषण से देशवासियों की मुक्ति। भारत की दीन-दुखी, अशिक्षित और असहाय जनता के प्रति करुणा जगाने वाली अनेक कविताएँ इसी वर्ग में आती हैं। किसान, मजदूर और ग्राम का अशिक्षित भूखा-नंगा जन-समुदाय काव्य का आलम्बन बना। दमन और शोषण के विरुद्ध संघटित करने के लिये उत्साह-पूर्ण कविताएँ लिखी गईं—बंगाल के अकाल के दिनों में एक काव्य-आन्दोलन ही आरम्भ हो गया था।

पहले इसका आधार राष्ट्रवाद और मानववाद था; परन्तु बाद में समाजवाद और साम्यवाद के प्रभाववश इसमें उग्र वर्ग-भावना का भी समावेश हो गया। मानववाद अपने स्थान से खिसक गया—वर्गवाद उसमें अड़ने लगा। सियाराम शरण गुप्त, नवीन, सोहनलाल द्विवेदी आदि की कविताएँ जहाँ राष्ट्रवाद और मानववाद के व्यापक आधार का लेकर लिखी गई हैं, वहाँ 'नरेंद्र' शिवमंगल सिंह, 'सुमन' और अंचल आदि में वर्ग चेतना स्पष्ट है।

रागात्मक सम्बन्ध का दूसरा रूप वह है जिसमें देश जड़ प्रतीक न रह कर सजीव एवं मूर्त्तिमंत हो जाता है। स्वभावतः एक ओर भारत की दिव्य मातृ रूप में कल्पना की गई, दूसरी ओर उसके हिमालय, गंगा, प्रयाग, दिल्ली, चित्तौड़, हल्दीघाटी आदि से सम्बद्ध परंपरागत मानव संस्कारों को उद्बुद्ध किया गया। भारत की दिव्य मातृभूमि के शतशत भव्य-चित्र हमारी राष्ट्रीय—सांस्कृति कविता की अमूल्य निधि हैं। मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, नवीन, निराला, पन्त, दिनकर आदि सभी प्रमुख कवियों ने मातृभूमि के दिव्य चित्रों का अंकन कर अपनी कल्पना को पवित्र किया है। इनकी पृष्ठभूमि में बंकिम-रचित त्रिविध—रूपा मातृभूमि और रवीन्द्र-अंकित भारत का उदार चित्र था। मैथिली बाबू ने इस चित्र को और भी वृहत्तर भौगोलिक विराट्ता प्रदान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की। त्रिंशकोटि भारतवासी अपनी वर्त्तमान हीनता को भूल कर इस विराट् रूप के सम्मुख आत्म-विभोर हो उठे। आस्तिक कवि और आगे बढ़ा और गीता के विराट् रूप के आधार पर उसने मातृभूमि को सर्वेश की मूर्त्ति से एकरूप कर दिया। निराला ने "भारति, जय विजय करे" में भी माता का यही देवी रूप अंकित किया है। उधर कवि पन्त ने भारत-माता को ग्राम-वासिनी के करुण-स्निग्ध रूप में अंकित कर देश की ग्राम-जनता की भावना को वाणी दी।

भारत माता ग्राम-वासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आंचल
गंगा यमुना में, आँसू जल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी।

इसमें देश का विराट्-उज्ज्वल चित्र नहीं है, उसका वर्त्तमान धूल भरा और उदास ग्राम्य चित्र है जो आज की वस्तु-निष्ठ कल्पना के अधिक निकट है। इस चित्र में रोमानी रूप-रंग का औज्ज्वल्य नहीं है, इसमें आज के मटमैले रंग हैं। पन्त जी ने भारत के रोमानी विराट्-उज्ज्वल चित्र भी दिये हैं, जो 'जन भारत हे' तथा उनके नवीन राष्ट्र-गानों में उद्भासित हुए हैं। पन्त जी ने अपने दोनों प्रकार के चित्रों में भारत के शान्ति-अहिंसा-मय रूप पर बल दिया है। देश-भक्ति की कविता के अंतर्गत इन विषयों पर लिखी हुई अनेक स्फुट और निबद्ध रचनाएँ आती हैं। दिनकर की हिमालय, पाटलिपुत्र की गंगा, दिल्ली आदि कविताएँ हिन्दी में पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी हैं। देश-भक्ति-काव्य का यह प्रसंग कविता की दृष्टि से सबसे समृद्ध है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि उस प्राचीन युग में ही वैभव और समृद्धि की रंगीनी और औज्ज्वल्य है जो तत्कालीन है, और तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिम्बित होकर हिन्दी कवियों को सहज ही प्राप्त हो गई। इस प्रकार हिन्दी की विकासशील रोमानी कल्पना को उसमें खुल खेलने का विस्तृत क्षेत्र मिला।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे वहाँ उदात्त भावनाओं के लिए भी पूर्ण अवकाश था। इस विषय पर प्रायः सभी राष्ट्रीय कवियों ने लिखा। मैथिली बाबू ने रामायण और महाभारत काल के कथानकों पर नवीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का आरोप किया। अन्य कवियों ने भी प्राचीन विषयों पर देश-भक्ति की कविताएँ लिखीं – गुप्त और राजपूत काल के वीरों की देश-भक्ति का यशोगान किया। प्रसाद, निराला, दिनकर, हरिकृष्ण प्रेमी, सोहनलाल द्विवेदी, श्यामनारायण पाण्डेय, सुधीन्द्र आदि की अनेक कविताएँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट कविताओं में भारत की राष्ट्रीय संस्कृति के विकास के अत्यन्त प्रभावपूर्ण चित्र अंकित किये गए हैं। श्री नवीन की प्रसिद्ध कविता "हिन्दुस्तान हमारा है" और स्कन्दगुप्त नाटक में प्रसाद के प्रसिद्ध आह्वान-गीत "हिमालय के आँगन में जिसे प्रथम किरणों का दे उपहार" आदि में, भारतीय संस्कृति के विकास का सुन्दर पुनरावलोकन है। ये दोनों कविताएँ विषय के अनुरूप ही हैं।

प्राचीन गौरव की पुनरुत्थानमयी भावना में स्वभावतः आर्य-संस्कृति का ही जय-जय-कार है। परन्तु यह भावना कहीं भी संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक नहीं होने पाई। संस्कृति शब्द में संकीर्णता के लिए स्थान नहीं है। इस सांस्कृतिक विचारधारा पर गाँधी के "सर्व-धर्म-समभाव" सिद्धांत और रवीन्द्र की अन्ताराष्ट्रियता अथवा विश्व-संस्कृति की कल्पना का गहरा प्रभाव था जिसने जाति, सम्प्रदाय और देश से बृहत्तर इकाई—विश्व मानवता की उदार भावनाओं को जन्म दे दिया था। इसके अतिरिक्त एक और प्रभाव—समान सर्वहारा संस्कृति का प्रभाव—भी कुछ-कुछ पड़ने लग गया था, परन्तु उसका स्वरूप अभी प्रच्छन्न ही था।

राष्ट्रीय कविता के इतिहास में १५ अगस्त १९४७ का दिन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह भारत का स्वतन्त्रता-दिवस था। इसके बाद राष्ट्रीय कविता का स्वर एक साथ बदल गया। पराजय और बलिदान का स्वर विजय-घोष में परिणत हो गया। इस पुण्य-पर्व के उपलक्ष्य में अनेक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राष्ट्रीय मंगल-गान लिखे गये जिनमें पंत, सियारामशरण गुप्त और दिनकर की रचनाएँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण थीं। पंत और सियारामशरण दोनों के मंगल-गान एक निर्मल पुण्य-भाव से प्रेरित है। उनमें गर्व तथा औद्धत्य का स्पर्श भी नहीं है।

प्रवृत्तियों के विश्लेषण के उपरांत इस वर्ग की रचनाओं के काव्यगुण का मूल्यांकन अपेक्षित है। यह तो स्वाभाविक ही है कि जिस प्रकार पिछले आन्दोलनों में भाग लेनेवाला अथवा जेल जानेवाला प्रत्येक व्यक्ति सच्चा देशभक्त भी नहीं था, सच्चा मनुष्य होना तो और आगे की बात थी, उसी प्रकार इस वर्ग की प्रत्येक रचना सच्ची देश-भक्ति से भी अनुप्राणित नहीं है, सच्ची कविता होना तो दूर रहा। वास्तव में इस काव्य का सम्बन्ध आन्दोलन से रहा है और आन्दोलन से सम्बद्ध काव्य प्रायः सामयिक तथा उत्तेजक ही होता है, उसमें स्थिर प्रभाव-क्षमता नहीं होती। आन्दोलन और साहित्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इनके उद्देश्य, इनके कर्त्तव्य-कर्म और इनकी विधि तीनों में ही अन्तर है। आंदोलन जहाँ तात्कालिक एवं वाह्य-स्थूल उद्देश्य को लेकर चलता है वहाँ साहित्य का उद्देश्य निसर्गतः सूक्ष्म-आंतरिक एवं शाश्वत होता है। आंदोलन अनुसरण चाहता है। आन्दोलन की विधि है उत्तेजना की, उथल-पुथल की; साहित्य की विधि है आनन्द की, तन्मयता की। क्योंकि आन्दोलन कर्म है और साहित्य भावना। आन्दोलन सामूहिक प्रयत्न है और साहित्य व्यक्तिगत।

इस युग के भिन्न-भिन्न आन्दोलनों के साथ भी यही हुआ। सुधार आन्दोलन, खिलाफ़त आन्दोलन, आतंकवादी अथवा अन्य हिंसक क्रान्ति के आन्दोलन, ४२ की क्रान्ति, आजाद हिन्द फौज सम्बन्धी आन्दोलन, बंगाल के अकाल का जनरव, सभी ने देश की जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों और स्तरों को प्रभावित किया। लक्ष-लक्ष आबाल-वृद्ध नर-नारी अपने प्राणों को हथेली पर रख कर स्वातन्त्र्य-संग्राम में जूझ गए। सामयिक कवियों ने उन के लिए अनेक आह्वान-गीत तथा कीर्ति-गान लिखे जिनकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस समय बड़ी धूम रही। परन्तु इनमें से अधिकांश को स्थायित्व प्राप्त नहीं हुआ। सामयिक प्रभाव का दूसरा नाम फैशन है और साहित्य भी फैशन से बच नहीं सकता। हिन्दी में न जाने कितने कवियों ने राष्ट्रीयता की मूलधारा में अवगाहन किए, बिना प्राणों के स्फुलिंग की जगह मुँह के भाग उगले और छिछले दिल और दिमाग के लोगों ने झूम-झूम कर उनकी दाद दी। परन्तु गंभीर कवियों और पाठकों को इनमें आत्माभिव्यक्ति नहीं मिली। इसीलिए भारत-भारती के कवि को साकेत और यशोधरा में आत्माभिव्यंजन खोजना पड़ा, रेणुका के कवि को कुरुक्षेत्र में आकर आत्मसाक्षात्कार हुआ, नवीन को सांस्कृतिक-कविताओं में अपनी आत्मा का रस उँड़ेलना पड़ा और जो ऐसा नहीं कर सके वे काव्य-इतिहास के पृष्ठ से लुप्त हो गए। [संकलित]

—:o:—

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

(१)

स्व० प्रेमचन्द ने जब हिन्दी-साहित्य में पैर रखा, वह उसकी जाग्रति का युग था। भारतेन्दु ने जब लिखना शुरू किया था, उस समय साहित्य और कला का पारखी केवल जराजीर्ण सामन्ती समाज था; मध्यवर्ग का जन्म ही हो रहा था। प्रेमचन्द को समझने वाली मध्यवर्गीय जनता काफी तादाद में तैयार हो चुकी थी। इसका कारण भारत में पूँजीवाद का आगमन था। इस जाग्रति के युग में हमारा कथा-साहित्य किस्सा तोता-मैना, बैताल पच्चीसी, चन्द्रकान्ता, भूतनाथ और मि० ब्लैक के जासूसी करतब छोड़ 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' की ओर मुड़ा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब भारत में पूँजीवाद संक्रान्तिकाल में पहुँचा है और उसका निर्मित समाज-विधान शिथिल पड़ रहा है; किन्तु एक नई शक्ति भी हमारे बीच उठ रही है जो समाज का कायाकल्प करके हमें फिर उन्नति के पथ पर अग्रसर करेगी। इस उन्नति के पथ में अनेक शक्तियाँ बाधा डाल रही हैं, किन्तु उनकी पराजय निश्चित है।

हमारे इतिहास के इस लम्बे युग का पूरा विवरण प्रेमचन्द के साहित्य में मिलेगा। साम्राज्यशाही के कारण भारतीय पूँजीवाद के विकास में बाधा पड़ती रही, किन्तु गाँव में जर्जर सामन्तशाही को पूरी सहायता मिली। नगर में उन्नत मध्यमवर्ग और श्रमजीवियों ने और गाँव में निम्नश्रेणियों ने स्वाधीनता का झण्डा ऊँचा किया, किन्तु अभी उस महायज्ञ में पूर्णाहुति नहीं पड़ी है।

प्रेमचन्द का साहित्य असल में भारतीय गाँव का आधुनिक इतिहास है। नगर से उन्हें कभी वास्तविक सहानुभूति नहीं हुई। गाँधीवाद के प्रभाव में वह गाँव का सरल, निर्मल जीवन अपना ध्येय मानते रहे। उनकी आशाएँ पाँड़ेपुर पर केन्द्रित थीं बनारस पर नहीं। भविष्य तो नगर के साथ है, किन्तु भविष्य का नगर 'लाभ' के बल पर अवलम्बित न होगा।

प्रेमचन्द की साहित्यिक दुनिया इसी विशाल भारतीय जन-समाज का प्रतिबिम्ब है। इस साहित्य में हमें उसका विस्तृत वर्णन मिलेगा। उसके संघर्ष, विजय, पराभव का विशद् चित्रण।

प्रेमचन्द की दुनिया एक खंडहर-मात्र है। चतुर्दिक् यहाँ दैन्य, निराशा, दारिद्र्य का चित्र है, किन्तु नव-जीवन का सन्देश भी इस समाज की रग-रग और कोपलों में पहुँच चुका है। प्रकृति का यहाँ अद्भुत साज-शृङ्गार है, फाग, डफ, अबीर—और आम और महुए के पेड़ों पर कोयल की तान।

यह दुनिया अनेक खिलाड़ियों की रंगभूमि है। पल भर अपना पार्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अदा कर वे यहाँ से चले जाते हैं। एक मेले की पूरी भीड़ यहाँ मिलेगी, धक्का-मुक्की और तिल रखने को ठौर नहीं। किसान, अहीर, पासी, अन्धे भिखारी, लोभी वणिक, व्यवसायी, पूँजीपति, जमींदार, रईस, ओहदेदार, पण्डे, मुल्ला, वृद्ध, आबाल, वनिता सभी इस भीड़ में मौजूद हैं। यह विश्वामित्र की सृष्टि से अधिक सफल मानव की सृष्टि है और इसमें न्याय, विवेक, त्याग और आदर्श के हाथ अन्तिम विजय निश्चित है।

(२)

प्रेमचन्द का साहित्य परिमाण में काफी है। सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, वरदान, रंगभूमि, काया-कल्प, प्रतिज्ञा, निर्मला, कर्मभूमि, गबन, गोदान, इसके अतिरिक्त दो नाटक और अनेक कहानियाँ। इस साहित्य में दिव्य चक्षुओं से देखा हुआ जीवन का एक वृहद् टुकड़ा मिलेगा, अनेक आकर्षक व्यक्ति, साथ ही कहानी का आनन्द और जीवन तथ्य।

'सेवा-सदन' में मध्य-वर्ग के पतन का एक चित्र है, जिसे आगे भी बार-बार प्रेमचन्द ने दुहराया है। आमदनी कम, खर्च अधिक, ऊपर सफेदपोशी का ढोंग। यह विडम्बना एक व्यक्ति अथवा परिवार की नहीं, पूरे समाज की है। कम वेतनभोगी स्कूल मास्टर का संकुचित जीवन, विलास की लालसा, समाज की दुर्व्यवस्था, पतित स्त्रियों का पथ— यह वीभत्स चित्र कलाकार ने खींचा। यह उसकी पहली उड़ान थी, किन्तु पहली बार ह' व्योम-विहारिणी बनी। मध्यवर्ग और नगर-जीवन की असफलताओं का इतना विस्तृत विवरण प्रेमचन्द ने फिर नहीं किया। फिर वह गाँव की ओर झुक गये। यौवन में दाल की मंडी का चक्कर लगाकर उनकी कल्पना ने 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' की शरण ली।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द गाँव की ओर मुड़े। यह जर्जर सामंतशाही का पहला विस्तृत चित्र उन्होंने खींचा। जमींदारी प्रथा का विषाक्त वातावरण, कुलीनता की लाज, स्वार्थपरता, त्याग, किसान-समाज की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीनता, अक्षमता, किन्तु बढ़ती संगठित शक्ति। 'गोदान' में उन्होंने इस चित्र को दोहराया, बड़े रस और अलंकार-परिपूर्ण भाषा और भावुकता से। किन्तु इस बार जमींदार के हृदय-परिवर्त्तन की आशा प्रेमचन्द छोड़ चुके थे।

'रंगभूमि' भारतीय समाज का एक व्यापक विशाल चित्र है रंग-भूमि रईसों और पंडों का प्रिय काशीधाम और पास का गाव पाँड़ेपुर है। यह गाँव स्व० प्रेमचन्द जी का गाँव है और सूरदास का मॉडल यहाँ उन्हें एक अन्धा भिखारी मिला था। इस कथा के विशाल चित्रपट पर कलाकार ने अपनी तूलिका से सभी तबकों का चित्रण किया; हिन्दू रईस, ईसाई वणिक, मुसलमान, कुलीन, गिरती दशा में अंग्रेज अफसर, अहलकार, स्वयंसेवक, राजघराने, रियासतों की दलित प्रजा, रूढ़ि का जकड़ा ग्रामीण समाज और कथा का सरताज अन्धा फकीर सूरदास। घूम-फिर कर कथा पाँड़ेपुर में ही केन्द्रित होती है। कारण है सिगरेट की फैक्टरी जिसके खुलने से गाँव में अनेक पातक फैलते हैं, अत्याचार होते हैं और अन्त में जाग्रति होती है।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द कुछ आध्यात्म की ओर ढुलके। यह प्रवृत्ति उनके साहित्य में सदा रही है। उनकी कहानी 'मूँठ' इसका एक उदा-हरण है। पार्थिव जग में जो हम चर्म-चक्षुओं से देखते हैं, उसके पार कुछ है—यह धारणा बढ़ कर 'कायाकल्प' में कथा-वस्तु का रूप विकृत करती है। इस कारण 'कायाकल्प' केवल सामाजिक कथा नहीं रही। वह व्यक्ति के जन्म-जन्मान्तर, योगाभ्यास, कायाकल्प आदि पचड़ों में पड़कर कुछ राइडर हैगर्ड (Rider Haggard) के शी (She) का आकार-प्रकार ले बैठी है। साथ ही साथ उसमें पुराने कुलीनों के प्रति बड़ा मधुर व्यंग भी है—मुन्शी वज्रधर के चित्रण में।

'कर्मभूमि' एक सार्वजनिक आन्दोलन का अध्ययन है। किस प्रकार जनता का बल चींटी के आकार से क्रमशः हाथी बन जाता है इसका वर्णन इस कथा में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'निर्मला' वृद्ध-विवाह का चित्र है। एक पूरा परिवार इसके कारण बिगड़ जाता है। यहाँ विमाता का एक कुशल मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है।

'गबन' हिन्दू गृह-कलह, हिन्दू नारी की आभूषण-लालसा और निम्न-मध्यमवर्ग की विडम्बना और पतन का शक्तिशाली चित्र है। 'गबन' हिन्दू-परिवार के कुण्ठित जीवन का गम्भीर ख़ाका है। इस उपन्यास में हमें विशाल कलकत्ता के नगर-जीवन की भी झाँकी मिलती है।

'गोदान' में प्रेमचन्द फिर गाँव की ओर मुड़े, नूतन उल्लास और रस लेकर। 'गोदान' वसन्त के छाया-पट पर बनाया गया झिलमिल चित्र है। इसमें उनकी भाषा यौवन-माधुरी से छलकी पड़ती है। किन्तु गाँव की दुर्दशा पर उनके आँसू भी निकल पड़ते हैं। इस भयानक संघर्ष और शोषण का उनकी कुपित, कुण्ठित आत्मा सामूहिक बल के अतिरिक्त कोई प्रतिकार नहीं देखती और 'गोदान' एक प्रकार से बिना अन्त की कहानी है। होरी के चित्रण में कुशल कलाकार के हाथों वही पुरानी कारीगरी, प्रौढ़ता और सफाई है।

(३)

इस कथा-प्रवाह में कलाकर के अनेक मनसूवे, खिलवाड़, अद्वितीय कौशल, चिर-संचित यत्न लीन हैं। उनकी ओर हमें एक विहंगम दृष्टि डालना चाहिए।

प्रेमचन्द हिन्दी के तपसी कलाकार थे। सामाजिक क्रांति की भावना से उनकी रचना ओत-प्रोत है। स्वयं अपने जीवन में वह सक्रिय क्रांति-कारी थे। उन्होंने आदर्श के लिए अपने को मिटा दिया। किन्तु उनका सबसे महान् क्रियात्मक प्रयोग उनकी रचना है।

संगठित सामूहिक शक्ति क्रांति का मार्ग है यह हम निरन्तर उनकी रचनाओं में देखते हैं। हमारे दलितवर्ग जरा से नेतृत्व की आड़ पाकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संगठित हो विजय के पथ पर बढ़ सकते हैं, यह हम 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' आदि कथाओं में देखते हैं।

इस क्रांति का क्या रूप प्रेमचन्द देखते थे? 'ऐसी क्रांति जो सर्व व्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्त्तक हो, एक नई सृष्टि कर दे।' (कर्मभूमि)

हमारे दलित वर्ग के त्राण का सन्देश इस क्रांति में है, गाँव के दीन, दुखी, शोषित श्रेणियों का, विशेषकर किसान का। युग-युग की संचित निरंकुशता से विकृत जमींदारी-प्रथा, साथ ही पुलिस आदि का रोग यह क्रांति समाप्त कर देगी। इस क्रांति की लहर दूर-दूर तक फैलकर समाज की मलिनता धो देगी।

उदाहरण के लिए धर्म का ढोंग लीजिए—

"मि० जॉन सेवक······क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ-जैसे और हजारों आदमी, जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बन्द करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं। ······धर्म केवल स्वार्थ-संघटन है।' (रंगभूमि)

अथवा जेल-शासन लीजिए—

'भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता और परिश्रम इतना करना पड़ता, जितना बैल भी न कर सके। जेल-शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से जबरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कण्टक साधन।' (कायाकल्प)

इस प्रकार सामाजिक अन्धकार को कुरेदती कलाकार की अन्तर्दृष्टि चारों ओर पड़ी है और जहाँ भी पहुँची है, दिव्य आलोक करके लौटी है।

भावना इस कलाकार की अन्तर्ज्योति का साधन है। इस भावना में देह, अदेह, जन, मग, पशु रंग जाते हैं और नवीन रूप में हमारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामने आते हैं। इस व्यापक भावना के कारण ही प्रेमचन्द की तुलना गोर्की से की गई है। प्रेमचन्द बुद्धिवादी थे, किन्तु अतिरञ्जित भावना ने उन्हें आदर्शवादी बनाया था और उनके बुद्धिवाद के पीछे यह प्रेरणा थी।

प्रेमचन्द का एक प्रबल अस्त्र तीखे छुरे-सा उनका व्यंग्य है। क्रोध से क्षुब्ध जब उनकी कल्पना उग्र रूप ग्रहण करती, तब वे व्यंग्य का आश्रय लेते हैं। पंडों के वर्णन में उनका व्यंग्य उपहास से भर जाता है। अमीरी के चोंचलों का वर्णन वह मीठे और कोमल विनोद से करते हैं। आप कहते हैं—'तोंद के बगैर पण्डित कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, तभी तो ताँत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पण्डित बने, चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय।' (कायाकल्प)

प्रेमचन्द जीवन के किसी भी अंग का चित्र बड़ी कुशलता और सुघड़ाई से खींचते थे। यही प्रेमचन्द कलाकार की सबसे बड़ी विजय थी; कलम उठाया और नक्शा खींचना शुरू किया। उनके हाथ में गजब की सफाई थी। इस चित्रांकन में वह तन्मय, आत्म-विस्मृत हो जाते थे। कभी-कभी तो रंग जरूरत से ज्यादा गाढ़ा हो जाता था। सूरदास को लीजिए; एक अन्धे भिखारी का वर्णन कर रहे हैं; उसमें इतने तन्मय हुए कि अन्धा भिखारी गाड़ी के पीछे मीलों दौड़ता चला जाता है।

इस महान् चित्रशाला में हमें जीवन के सभी चित्र मिलेंगे। किन्तु एक चित्र उन्होंने फिर-फिर दुहराया है; जर्जर भारतीय सामन्तशाही का दृश्य, कुण्ठित किसान और संकट में पड़ी जमींदारी-प्रथा। भारतीय गाँव उनकी रंगभूमि है और किसान उनका नायक। उनकी सम्पूर्ण आशाएँ यहाँ केन्द्रित हैं। 'शहर' अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उनके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मध्य भाग में उनके लड़कों की पाठशालाएँ और उनके मुकदमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आस-पास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं।......'(रंगभूमि) यह शहर के प्रति उनका रुख है।

प्रेमचन्द की कथाओं में दृश्य-नाट्य बहुत हैं। एक-एक घटना का वह तल्लीनता से वर्णन करते हैं। भारतीय रंग-मंच के उत्थान-काल में वह नाटककार हुए होते। जो दृश्य उनकी लेखनी वर्णन करती है, उसे नेत्र मानो सजीव देखते हों, यह उनकी कला का विशेष चमत्कार है। इस नाट्य-गुण के कारण उनकी कथा की गति में बड़ी तरलता, लचक और आकर्षण है। एक उदाहरण लीजिए :—

'निर्मला चटपट बाहर निकली। मुन्शी जी उसके हाथ धुलाने लगे। मंगला चारपाई बिछाने लगी। मनोरमा बेरोठे में आकर रुक गई। इतना अँधेरा था कि वह आगे कदम न रख सकी। मरदाने कमरे में एक दीवारगीर जल रही थी। झिनकू उतावली में उसे उतारने लगे तो वह जमीन पर गिर पड़ी। यहाँ भी अँधेरा हो गया। मुन्शी जी हाथ में कुप्पी लेकर द्वार की ओर चले तो चारपाई की ठोकर लगी। कुप्पी हाथ से छूट पड़ी। आशा का दीपक भी गया।' (कायाकल्प)

प्रेमचन्द के कथानक विशेष मनोरंजक होते हैं। पाठक को बरबस बाँध लेते हैं। खाना-पीना बिसर जाता है। तम्बाकू के बोरों के पीछे छिप कर पढ़े गये तिलस्माती उपन्यास आखिर काम आये! घटना प्रवाह के उतार-चढ़ाव में प्रेमचन्द सिद्ध-हस्त थे। 'रङ्गभूमि' उनका विशालकाय उपन्यास एक साँस में नहीं, तो दो में पढ़ा जा सकता है।

उनकी कथा-वस्तु की हलचल समुद्र की तरंगों के सदृश है। घटना आगे बढ़ती है, तूल पकड़ती है। फिर पीछे हट जाती है। कथानक में यह कशमकश अन्त तक जारी रहती है। टेकनिक वही है जो 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' अथवा 'ईश्वरीय न्याय' आदि गल्पों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में इतनी सफल है। कथानक में शक्ति के साथ-साथ लचक रहती है; जैसे किसी लौह-शलाका में।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द सिद्धहस्त थे। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को अनेक पात्र दिये हैं। छोटे-बड़े पात्र तो उनकी कथाओं में अगणित भरे पड़े हैं, किन्तु इनमें कुछ हमारी जीवन-लीला के चिरसंगी बन गये हैं। सूरदास, विनय, अमरकान्त अथवा होरी इतिहास के अमर पात्रों से कम नहीं। इसी प्रकार स्त्रियों में सुमन अथवा सोफी को समझना चाहिये।

प्रेमचन्द को मनुष्य-स्वभाव का अपरिमित ज्ञान था। बालक, बूढ़े, युवा, स्त्री, पुरुष सभी के स्वभाव की उन्होंने विशद व्याख्या की है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे। मनुष्य का उनके मन में अपार आदर था। कहते हैं, मनुष्य अपने से ही दूसरों को भी परखता है। प्रेमचन्द स्वयं विनोदी थे, यद्यपि उनके आदर्श का झंडा कभी नीचा नहीं हुआ। उनकी खुलकर हँसने की आदत अब भी उनके मित्रों को याद है। यह विनोदशीलता और आदर्शवाद उनके चरित्र-चित्रण में भी मौजूद हैं। वह मनुष्य-स्वभाव का ऊँच-नीच पहचानते थे। वह जानते थे कि ऊँचे-से-ऊँचे भी नीचे ढुलक पड़ते हैं और नीचे-से-नीचे भी पश्चात्ताप की आग में जल कर ऊपर उठने की क्षमता रखते हैं। सूरदास और होरी के स्वभाव में भी दुर्बलताएँ हैं, और काले खाँ सरीखे चोर-डाकुओं के मनों में उच्च भावनाएँ। इस उदारता-मिश्रित स्वाभाविकता से प्रेमचंद के पात्रों की गढ़न हुई है।

यह चरित्र-निर्माण ही उनके कथानक को आगे बढ़ाता है। कथानक का स्रोत प्रेमचन्द के जग में मनुष्य का चरित्र है, कोई दैवी अदृश्य शक्ति नहीं। चरित्र-निर्माण और घटना-जाल प्रेमचन्द की कला में एक अन्तरंग बन्धन में परस्पर बँधे हैं। दोनों मिल कर जीवन के सदृश ही विचित्र नक्काशी पेश करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनोविज्ञान की ठोस भूमि पर निर्मित यह कलाकार का चरित्र-जग प्रभावोत्पादक है। सूरदास के मन में भी एकाध बार प्रभुत्व की भावना उठती है। इन्दु के मन में सोफ़ी के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाती है। अहल्या विलास की लालसा में उलझ चक्रधर को तज देती है। किन्तु मनुष्य का स्वभाव ही है गिर-गिर कर उठना और आगे बढ़ना! बीच-बीच में प्रेमचन्द मनुष्य-स्वभाव की विवेचना भी करते हैं।

'चञ्चल-प्रकृति बालकों के लिए अन्धे विनोद की वस्तु हुआ करते हैं। सूरदास को उनकी निर्दय बाल-क्रीड़ाओं से इतना कष्ट होता था कि वह मुँह-अँधेरे घर से निकल पड़ता और चिराग जलने के बाद लौटता। जिस दिन उसे जाने में देर होतीं, उस दिन विपत्ति में पड़ जाता था। सड़क पर, राहगीरों के सामने, उसे कोई शंका न होती थी; किन्तु बस्ती की गलियों में पग-पग पर किसी दुर्घटना की शंका बनी रहती थी। कोई उसकी लाठी छीन कर भागता; कोई कहता—'सूरदास, सामने गड्ढा है, बाईं तरफ़ हो जाओ।' सूरदास बाएँ घूमता, तो गड्ढे में गिर पड़ता।......' (रंगभूमि)

प्रेमचन्द की भाषा ठेठ हिन्दुस्तानी है, सीधी-सादी किन्तु मँजी, प्रौढ़, परिष्कृत; संस्कृत-पदावली से शुभ्र और उर्दू से चंचल। जो आलोचक कहते हैं कि हिन्दुस्तानी में ऊँचे भावों की रक्षा नहीं हो सकती, उनके सामने प्रेमचन्द का उदाहरण है:—

'सकीना जैसे घबरा गई। जहाँ उसने एक चुटकी आटे का सवाल किया था, वहाँ दाता ने ज्योनार का एक भरा थाल लेकर उसके सामने रख दिया। उसके छोटे से पात्र में इतनी जगह कहाँ? उसकी समझ में नहीं आता कि इस विभूति को कैसे समेटे। अंचल और दामन सब कुछ भर जाने पर भी तो वह उसे समेट न सकेगी।' (कर्मभूमि)

यह भाषा तीखी, पैनी, मर्मस्थल पर आघात करनेवाली है। चुस्त, मुहावरेदार और अलंकारमयी भी है। उपमा इसकी विशेषता है। जन-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधारण के जीवन से यह अपने शब्द-चित्र बनाती है : 'मुंशी वज्रधर उन रेल के मुसाफिरों में थे जो पहले तो गाड़ी में खड़े होने की जगह माँगते हैं, फिर बैठने की फिक्र करने लगते हैं और अन्त में सोने की तैयारी कर देते हैं।' (क़ायाकल्प)

विनोद इस भाषा से छलका पड़ता है : 'संसार में कपड़े से ज्यादा बेवफ़ा और कोई वस्तु नहीं होती। हमारा घर बचपन से बुढ़ापे तक हर एक अवस्था में हमारा है। वस्त्र हमारा होते हुए भी हमारा नहीं होता। आज जो वस्त्र हमारा है वह कल हमारा न रहेगा। उसे हमारे सुख-दुःख की ज़रा भी चिन्ता नहीं होती, फ़ौरन बेवफ़ाई कर जाता है। हम ज़रा बीमार हो जायँ, किसी स्थान का जलवायु ज़रा हमारे अनुकूल हो जाय, बस हमारे प्यारे वस्त्र जिनके लिए हमने दर्जी की दूकान की खाक छान डाली थी, हमारा साथ छोड़ देते हैं।' (कायाकल्प)

वह भाषा 'गोदान' में परम रसवन्ती, अलंकार-बोझिल, कवितामयी हो गई है। इसके तरल प्रवाह में कथानक और कथोपकथन सजल गति से बहे हैं। पात्रों का सजीव वार्त्तालाप प्रेमचंद कथाकार का निजी गुण है। यह सजीवता कुछ तो भाषा के कारण है, कुछ उनके गहरे अनुभव पर अवलम्बित। जो बातचीत हम प्रेमचंद के उपन्यासों में सुनते हैं, वह जीवन में अपने चारों ओर सुन सकते हैं।

इसी कारण हम इनके उपन्यास-संसार को भारतीय जीवन का एक अंग कह सकते हैं।

(४)

प्रेमचन्द की टेकनिक कितनी सफल और परिष्कृत है, इसका प्रमाण 'कायाकल्प' है। टेकनिक की कुशलता उपन्यास का आकर्षण बनाये रखती है। कथा-वस्तु की एक भारी भूल ने 'कायाकल्प' को सामाजिक उपन्यास की श्रेणी से निकाल कर अध्यात्म के क्षेत्र में पहुँचा दिया। प्रेमचंद की विचारधारा में सदैव से अश्रुत, अदृश्य जग के प्रति ऐसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावना की एक तरंग थी। 'रंगभूमि' में एक भीलनी ने विनय को एक बूटी दी जिसके बल से सोफी के मन में वासना जग उठी। ऐसी ही कुछ विचित्र उनकी कहानी 'मूँठ' है। 'प्रेमाश्रम' में एक विलासी रईस योगबल से अपने शरीर का विष बाहर निकाल देता है।

प्रेमचन्द भावुक थे। कोई वैज्ञानिक बुद्धिवाद उनकी कला के पीछे नहीं। इस कारण नवीन समाज का विधान भी उनकी दृष्टि में धुँधला-सा रहा। क्रान्ति के बाद गाँव में स्वर्ण-युग की सरलता और निष्कपटता का फिर राज्य होगा,—ऐसा शायद कुछ उनका स्वप्न था। यह कहिये कि गाँधीजी का रामराज फिर लौटेगा। यह वैज्ञानिक मनोवृत्ति नहीं। सरिता जल के समान मनुष्य का सामाजिक जीवन भी आगे ही बढ़ता है, पीछे नहीं लौटता। हम मनुष्य का भविष्य सुविशाल निःस्पृह नगरों में देखते हैं, जिनकी जीवन-प्रेरणा लाभ नहीं; सामाजिक उपयोग होता।

प्रेमचन्द का कथानक घटना-बाहुल्य से दबा रहता है। उपन्यास की नवीन टेकनिक के अनुसार छोटी-छोटी घटनाएँ कथानक को आगे बढ़ाती हैं। गबन, गृहत्याग, मृत्यु, लम्बी-लम्बी यात्राए—इनकी प्रेमचन्द के वस्तु-भाग में भरमार रहती है। 'निर्मला' में लगभग सभी पात्र मृत्यु के घाट उतार दिये गये हैं। 'रंगभूमि' का कथानक विशेष चंचल है। इसका कारण हम यह कह सकते हैं कि आज भारतीय जन-समाज का जीवन भी बहुत शुद्ध, आतुर और गतिशील है।

आरोप हमारा यह है कि कहीं-कहीं प्रेमचन्द अस्वाभाविक हो जाते हैं। किसी घटना को तूल देते-देते वह उचित-अनुचित भूल जाते हैं। अन्धा सूरदास गाड़ियों के पीछे मील-मील भर कैसे दौड़ सकता है? सोफिया मि० क्लार्क के साथ अकेले राजस्थान में कैसे घूमी, यहाँ तक कि महाराज और दीवान भी उसे मिसेज क्लार्क समझते रहे? यह किस समाज की प्रथा में सम्भव है? 'कायाकल्प' में मरणासन्न मनोरमा चक्रधर के आते ही बच्चे को लेकर चारों ओर दौड़ने लगी! क्या यह कथाकार के अधिकार का दुरुपयोग नहीं? 'कर्मभूमि' में भद्र महिला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकीना अमरकान्त से दूसरी ही भेंट में घुल-मिलकर प्रेम की बातें करने लगी !

प्रेमचन्द के कुछ पात्र भी व्यक्ति की अपेक्षा 'टाइप' बन जाते हैं, धूर्त, मक्कार अथवा संत। ऐसा कभी-कभी ही हुआ है। 'रंगभूमि' में कर्मनिष्ठ, धर्म-भीरु ताहिरअली गबन कर बैठते हैं; किन्तु माहिरअली अथवा उनकी माताएँ बिल्कुल नहीं झुकतीं। मिसेज जॉन सेवक के हृदय से मातृ-भाव विलीन हो गया है। उसका चरित्र जड़ है, विकासमान नहीं। इसके विपरीत हम उनके पात्रों को गतिशील और चलायमान देखते हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। वह एक जगह स्थिर नहीं रहता।

(५)

एक पल प्रेमचन्द की तुलना साहित्य के अन्य उपन्यासकारों से करें।

प्रेमचन्द हमें सहज ही 'डिकेंस' का स्मरण दिलाते हैं ; वही घटना-बाहुल्य, पात्रों की भीड़-भाड़ और सामाजिक परिवर्त्तन की लगन। 'डिकेंस' भी निम्न वर्गों का चित्रण करता है, किन्तु वह नगर-जीवन का चित्रकार है और बहुधा उसके चरित्र विकृत, अस्वाभाविक हो गये हैं। जैसे उसने दुर्बीन के गलत सिरे से जीवन देखा हो। 'डिकेंस' को लन्दन का चित्रकार कहा गया है। प्रेमचन्द शहर से तने रहते थे।

गोर्की से भी प्रेमचन्द की तुलना एक हद तक उपयुक्त है। दोनों ही क्रान्ति के समर्थक और दलित वर्गों के अगुआ थे। गोर्की के जगत में पात्रों की यह भीड़-भाड़ नहीं। यदि प्रेमचन्द किसान-जीवन के कलाकार हैं, तो गोर्की मजदूरों का। फैक्टरी, बाजार-हाटों की हलचल, और क्रान्ति की अवाध-गति—ये गोर्की की कथा 'माँ' के अपने गुण हैं। 'कर्मभूमि' में कथानक का विकास 'माँ' के ही सदृश हुआ है।

गॉल्ज़वर्दी ने भी अपने समाज का विस्तृत इतिहास लिखा है, किन्तु वह उच्च मध्यवर्ग के प्राणी थे। इसी समाज में उनका जीवन केन्द्रित था। निम्न वर्गों की ओर भी वे झुके हैं, लेकिन अनुभूति के बल; अनुभव के नहीं। पशुओं की मनोवृत्ति वह भी प्रेमचन्द के समान समझते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं; किंतु उनका स्नेही पशु घोड़ा या कुत्ता है, प्रेमचन्द का बैल। यह भेद उनकी कला की नींव तक हमें पहुँचाता है। घोड़ा और कुत्ता विलास और मनोरंजन का साधन है, बैल रोजी का।

अपने देश में रवि बाबू और शरद् बाबू से उनकी तुलना हम कर सकते हैं।

रवि बाबू के कथा-भाग में रेशम के तारों-सा कोमल रईसी या मध्य-वर्ग का जीवन है। उनकी भाषा-चातुरी, चतुर शब्द-विन्यास, काव्यमय जीवन-झाँकी हमें एक शान्त, स्निग्ध वातावरण में पहुँचा देते हैं, जहाँ जीवन की विषमता और कठोरता विकराल रूप से हमारे सामने नहीं आती। भावनाओं और सौन्दर्य के जगत में कवि की प्रेरणा विचरती है।

शरत् बाबू हिन्दू भद्र-समाज के कठोर आलोचक हैं, उसकी दहेज-प्रथा के, ढकोसलों और दलबंदियों के। 'पल्ली समाज', 'अरक्षणीया' आदि हमारे समाज के वीभत्स चित्र हैं। शरत् बाबू के पात्र बहुत मर्म-स्पर्शी होते हैं। वह हमारे हृदय में वेहद उथल-पुथल मचा देते हैं।

प्रेमचन्द की कला में न तो रवि बाबू का काव्य-रस है, न शरत् बाबू का मर्मस्पर्शी चरित्र-चित्रण। किन्तु आपने अपनी कला में भारतीय जीवन के उस विशाल, विस्तृत स्तर को छुआ है, जो अब तक अदृश्य और अछूता था। आपने भारत के मूक जन-समाज को वाणी दी है और अभूतपूर्व साहित्यक जीवन। यही आपकी बड़ी विभूति है। इस दृष्टिकोण से प्रेमचन्द कलाकार रवि बाबू और शरत् बाबू से भी एक पग आगे हैं। [संकलित]

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमचन्द : कहानीकार

कहानी का जन्म पूर्व में हुआ। आजकल भी सिन्दवाद और अलादीन अथवा हितोपदेश की कहानियों से हमारा मनोरंजन होता है। परन्तु आधुनिक साहित्यिक गल्प कई शताब्दियों तक पश्चिम में निवास कर अब पूर्व को लौटी है। सेन्ट्सवरी के कथनानुसार कहानी के चार अंश होते हैं। कथानक (Plot), चरित्र-चित्रण (character), वार्ता (Dialogue) और वर्णन अथवा वातावरण (Discription)। पश्चिम के, विशेषकर इङ्गलैंड के कहानीकारों का कथानक अनाकर्षक होता है। चरित्र-चित्रण ही उनका सफल होता है।

यह स्वाभाविक-सी बात मालूम होती है कि पूर्व में फिर उत्कृष्ट कहानी-लेखकों का जन्म हो, क्योंकि इस कला में पूर्व सदा से निपुण रहा है। केवल कहानी का रूप बदल गया है।

प्रेमचन्द ने 'मानसरोवर' के 'प्राक्कथन' में लिखा है—'सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' 'प्रेमद्वादशी' की भूमिका में आपने लिखा है—'वर्त्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।' प्रेमचन्द का विशेष महत्व यह है कि अपने उपन्यास और कहानियों में उन्होंने भारत की आत्मा को सुरक्षित रखा है।

उनकी रचनाओं का स्मरण करते ही भारत के ग्राम, यहाँ का कृषक-वर्ग, उच्च-कुल की ललनाएँ, आम और करौंदे के पेड़, यहाँ के पशु-पक्षी स्मृति-पट पर घूम जाते हैं। आपकी रचनाएँ पढ़कर देश के मनुष्य और आदर्श हमारी दृष्टि में ऊपर उठ जाते हैं।

प्रेमचन्द और सुदर्शन दोनों ही पहले उर्दू में लिखते थे। 'सप्त-सरोज' और 'सेवासदन' का उपहार देकर प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवेश किया। इन रचनाओं में जो रस, अनुभूति और प्रतिभा है, उसके आगे प्रेमचन्द न बढ़ सके।

उपन्यास और गल्प भिन्न कला है। यह आवश्यक नहीं कि सफल उपन्यासकार अच्छा गल्प-लेखक भी हो। उपन्यास में जीवन का दिग्द-र्शन होता है, गल्प में केवल झाँकी मात्र होती है। मानव-चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को, किसी घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी लिखी जाती है। जीवन के सभी अंगों पर या मानव-चरित्र के सभी जटिलताओं पर कहानी प्रकाश नहीं डाल सकती। प्रेमचन्द लिखते हैं—'कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजाइश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।' प्रेमचन्द सफल उपन्यास-कार और गल्प-लेखक थे। इस लेख में हम उनकी कहानी-कला पर कुछ विचार करेंगे।

(२)

'सप्तसरोज' प्रेमचन्द का पहला कहानी-संग्रह है। इसके विषय में शरद् बाबू ने यह सम्मति दी थी—'गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भाव-पूर्ण हैं। रवीन्द्र बाबू के साथ इनकी तुलना करना अन्याय और अनुचित साहस है। पर और कोई भी बंगला लेखक इतनी अच्छी गल्पें लिख सकता है या नहीं इसमें सन्देह है।

रवि बाबू की भाषा में जो माधुरी और रस है, उनकी रचना में जो अनुभूति और पीड़ा है, उसकी समता प्रेमचन्द नहीं कर पाते। परन्तु प्रेमचन्द की रचना में अपने-अनेक गुण हैं, जो और कहीं नहीं मिलते। कौन इतनी तपस्या से ग्रामीण कृषकों का हृदय ग्राम्य-जग को पहचाना है? 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता का ऐसा चित्रण और कहाँ मिलेगा?

ग्राम्य-जग का चित्र खींचते हुए आप कहते हैं—'वहाँ आम के वृक्षों के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज दाँते थे; और जब चाहते भूसे में मुँह डालकर अनाज का एक गाल खा लेते थे। गाँव के बढ़ई और चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिये जमा थे। एक ओर नट ढोल बजाकर अपना करतब दिखा रहा था। कवीश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमङ्ग पर थी।'

-- 'उपदेश', 'सप्त-सरोज'।

इस संग्रह में दो कहानियाँ तो बड़ी ही उच्चकोटि की हैं :— 'बड़े घर की बेटी' और 'पंच-परमेश्वर'। किसी भी साहित्य को ऐसी रचनाओं पर गर्व हो सकता है।

'बड़े घर की बेटी' छोटे-से गाँव में आई, जहाँ वह रेशमी स्लीपर न पहन सकती थी, जहाँ नाम के लिए कोई सवारी भी न थी। न जमीन पर फ़र्श, न दीवारों पर चित्र। फिर भी उसने यहाँ की गृहस्थी सम्हाल ली। एकबार खाना बनाते समय देवर से कहा-सुनी हो गई और उसने आनन्दी को खड़ाऊँ खींच मारा। वह बहुत रोई। उसके पति भी झल्लाये। घर से अलग होने की नौबत आ गई। अब उसका देवर भी पछता रहा था और आँसू बहा रहा था। आनन्दी पिघली। उसने बीच-बचाव कर शान्ति करवा दी।

मानव स्वभाव का यह बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्र है। प्रेमचन्द की रचनाओं को पढ़ कर मनुष्य पर हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है। उसमें वास्तविकता और आदर्शवाद का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। हम यह कभी नहीं सोचते कि यह चरित्र कल्पना-जगत के हैं। उनके वर्णन में वास्तविकता होती है, किन्तु उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी रहता है।

जो कथा-शैली प्रेमचन्द ने यहाँ अपनाई उसको अन्त तक निभाया। 'बड़े घर की बेटी' एक हद तक कठोर होती चली जाती है, फिर अत्यन्त नम्र हो जाती है। जैसे लोहे की पत्ती जितने जोर से खींची जायगी, उतनी ही शक्ति से वह उचटेगी। या धनुष की प्रत्यञ्चा जितनी ही खींची

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जायगी उतनी ही दूर वह बाण को फेंकेगी। उनकी इस शैली को गणित की रेखाओं से समझ सकते हैं। एक हद तक कथा का चढ़ाव होता है; फिर वह पीछे हट जाती है। इसी प्रकार 'पंच-परमेश्वर' भी एक हद तक गिरते हैं, फिर संभल जाते हैं। पिछले वर्षों की लिखी हुई कहानियों के संग्रह 'मानसरोवर' में भी इस शैली की अनेक गल्पें मिलती हैं।

प्रेमचन्द में सच्चे साहित्यकार की सब अनुभूतियाँ थीं। मनुष्य-स्वभाव पर उन्हें श्रद्धा थी। कसौटी पर चढ़कर मनुष्य सच्चा ही उतरता है। उदाहरणार्थ, कुछ बाद की लिखी कहानी 'ईश्वरीय न्याय'।

उनकी भाषा ग्रामीण-जीवन-सी ही सीधी-सादी है। उनकी उपमाएँ दैनिक जीवन से ली गई हैं। 'जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक उठता है।' (बड़े घर की बेटी) 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठ देने पर भी कहीं-न-कहीं से टूट ही जाती है।' (सौत)

भाषा मुहावरेदार काफी है। 'पहले घर में दिया जलाते हैं, फिर मस्जिद में।' कहीं-कहीं पर बड़ा कोमल व्यंग है। 'इञ्जीनियरों का ठेकेदारों से कुछ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मधुमक्खियों का फूलों से। यह मधुरस कमीशन कहलाता है। कमीशन और रिश्वत में बड़ा अन्तर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों ही का सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर बाटिका है, जहाँ न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय··· ।' (सज्जनता का दण्ड)

'सप्त सरोज' में प्रेमचन्द की कहानी-कला का जो रूप बना, वह अन्त तक बना रहा। इधर कुछ उसमें परिवर्त्तन होने लगा था, किन्तु अनेक वर्षों तक उनकी कथा के पात्र ऐसे ही वातावरण में, ऐसे ही स्वरूप से भ्रमण करते रहे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३)

'नव-निधि' में अधिकतर ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। कहानियाँ सभी मनोरंजक हैं। किन्तु प्रेमचन्द की गल्प-कला इन कहानियों में उतनी उच्चकोटि की नहीं। कथानक के उतार-चढ़ाव में और चरित्र-चित्रण में लेखक की कल्पना को उतनी स्वतंत्रता नहीं। प्रेमचन्द की कहानी-कला का एक विशेष गुण कथानक-गुम्फन है। कसीदे के समान घटना का जाल उनकी कल्पना बनाती है। किन्तु 'नव-निधि' में उनकी कल्पना बँध-सी गई है।

ऐतिहासिक कहानी की नस्ल खच्चर के समान है। न वह इतिहास है, न सफल कहानी ही। लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephan) ने उसे वर्ण संकर (Hybrid) बताया है। ऐतिहासिक कहानी तब सफल होती है, जब ऐतिहासिक वातावरण में कल्पना के चरित्र विचरें। ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर कहानीकार अपनी सब स्वतंत्रता खो देता है। 'नवनिधि' में 'धोखा' नाम की कहानी सुन्दर है। शायद इसके पात्र और इसका कथानक कल्पित है।

'नव-निधि' की पिछली तीन गल्पें 'अमावस्या की रात्रि', 'ममता' और 'पछतावा' प्रतिभापूर्ण हैं। इनमें प्रेमचन्द की स्वाभाविक कहानी-कला का चमत्कार है। जो शैली उन्होंने 'सप्त सरोज' में अपनाई थी, उसी को सफलतापूर्वक निवाहा है। इनमें मनुष्य के हृदय की, उसके भावों की अच्छी सूझ है।

यह ऐतिहासिक कहानियाँ अधिकतर मुगल साम्राज्य के मध्याह्नकाल की हैं। पहली दो कहानियाँ 'राजा हरदौल' और 'रानी सारन्धा' बुन्देलों की वीरता और आन का चित्रण हैं। इन कहानियों को पढ़कर मन में राजपूताने की वीर-कथाएँ हरी हो जाती हैं।

'प्रेम-पूर्णिमा' में प्रेमचन्द की कहानी-कला में कुछ विकास न हुआ। अधिकतर कहानी सुगठित हैं और 'सप्त-सरोज' के पथ पर चली हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'ईश्वरीय न्याय', 'शंखनाद', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन' आदि कहानी 'पंच-परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी उत्कृष्ट कहानियों से टक्कर लेती हैं। 'शङ्खनाद' और 'दुर्गा का मन्दिर' तो प्रेमचन्द जी ने अपने 'प्रेम-द्वादशी' नामक बारह सर्वोत्तम कहानियों के संग्रह में भी रखी है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'सप्त-सरोज' और 'प्रेम-पूर्णिमा' के बीच उनकी कला का कुछ ह्रास ही हुआ। अधिकतर कहानियाँ पुरानी लिखी हुई जान पड़ती हैं, अथवा यह हो सकता है कि उनकी कला एक परि-पाटी को अपनाकर विकसित न हो सकी।

प्रेमचन्द का विशेष गुण उनका मनोविज्ञान है। हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव समझने में वे निपुण हैं। 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन' आदि गल्पें इसी सूझ के कारण सफल हैं।

जहाँ ग्राम्य-जग की ओर प्रेमचन्द ने मुख मोड़ा है, वहाँ उन्होंने आशातीत सफलता पाई है। 'शंखनाद' नाम की कहानी में ग्राम्य-जीवन का विशद वर्णन है। पात्रों के नामों तक में ग्रामीणता भरी है। उनके नामों से हमें काफी सन्तोष मिलता है—भानु चौधरी के लड़के वितान, शान और गुमान चौधरी, मिठाई बेचनेवाला गुरदीन, गुमान चौधरी का लड़का धान। गुमान के व्यसन—मुहर्रम में ढोल बजाना, मछली फँसाना, दंगल में भाग लेना। इस ग्राम्य-जीवन के चित्रण में अवश्य ही दैवी शक्ति है।

किन्तु बार-बार हमारे मन में उठता है कि प्रेमचन्द मध्य-वर्ग के मनुष्यों को नहीं पहचानते, विशेषकर नगर के मध्य-वर्ग को। न इनसे प्रेमचन्द को कुछ सहानुभूति ही है। जिस प्रकार ग्राम में इतनी पीड़ा होते हुए भी ग्रामीण के हृदय में उदारता है, उसी तरह अनेक नागरिक भी हृदय में व्यथा छिपाये पड़े हैं। रवि बाबू इन्हें खूब पहचानते थे।

प्रेमचन्द की विशेष अकृपा उन व्यक्तियों पर है जो पश्चिम की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृति के दास हो चुके हैं। ऐसे मनुष्यों को धर्म और नीति का ज्ञान नहीं। 'धर्म-संकट' नाम की कहानी में कामिनी को अच्छी-भली अ-सती बना दिया है। जब देश में अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति अनुराग बढ़ रहा है, तब ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था।

परन्तु कलाकार का एक विशेष उत्तरदायित्व होता है। कला धर्म के आडम्बर से परे है। वह नैतिकता का ऊँचा उठता रूप हमें दिखाती है। 'प्रेम पूर्णिमा' की कुछ कहानियों से हमें ऐसा भासित हुआ कि यदा-कदा उनको कला धर्म आदि के आडम्बर से दब गई है। 'सेवा-मार्ग', 'शिकारी-राजकुमार' और 'ज्वालामुखी' कुछ इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

कहानी के इतिहास में नैतिक कथा का स्थान बहुत नीचा है। 'हितोपदेश' और 'ईसप' की कथाएँ बच्चे ही अधिक चाव से पढ़ते हैं।

कभी-कभी तो ईसप की कथाओं के नैतिक विचार की भाँति प्रेमचन्द भी अपनी कहानियों का अन्त मोटे अक्षरों में छापते हैं। 'यही ईश्वरीय न्याय है'; 'यह सच्चाई का उपहार है'; 'यही महातीर्थ है' आदि। हिन्दी के सौभाग्य से प्रेमचन्द की कला का यह रूप अस्थिर रहा।

'प्रेम पच्चीसी' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द की कला में कुछ नए अणु दीखे। इन कहानियों के लिखने के समय सत्याग्रह का ववंडर चल रहा होगा। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का मनोहर अंश उनकी गाँधी-भक्ति है। अपनी कला से जो कुछ देश की सेवा वह कर सके, उन्होंने की।

'सुहाग की साड़ी', 'दुस्साहस' आदि राजनीतिक रंग लिए कहानियाँ हैं। 'आदर्श-विरोध' और 'पशु से मनुष्य' भी इसी गहन समस्या पर विचार है। गाँधी आन्दोलन का सुन्दर रूप चित्र-कला में कनु देसाई ने दिखाया। प्रेमचन्द की कला को भी हम इस देश-व्यापी संग्राम से अलग नहीं कर सकते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मूढ़' और 'नाग-पूजा' में ऐसा लगता है कि शायद प्रेमचन्द जादू आदि पर विश्वास करते हों। जीवन में इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती है।

प्रेमचन्द पशु-जीवन से भी भली-भाँति परिचित हैं। 'स्वत्वरक्षा' एक घोड़े के चरित्र का दर्शन है। 'पूर्व-संस्कार' में जवाहर नाम के बैल का अच्छा वर्णन है। उनकी कहानियों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

'दफ्तरी', 'बौड़म', 'विध्वंस' आदि सूक्ष्म चरित्र-चित्र हैं। इस कला में प्रेमचन्द खूब दक्ष हैं। यदि ऐसे चित्र एकत्रित किए जायँ तो शायद ही जीवन का कोई अंग इनसे अछूता पाया जाय। 'प्रेम-पचीसी' की सर्वोत्तम कहानियों में 'बूढ़ी काकी' अवश्य गिनी जायगी। यह कहानी बड़ी सच्ची और मर्मभेदी है। 'लोकमत का सम्मान' उनकी अच्छी कहानियों से टक्कर ले सकती है।

किन्तु प्रेमचन्द को शायद 'आत्माराम' अधिक भाती थी। इसे उन्होंने 'प्रेम द्वादशी' में भी स्थान दिया है। कहानी मनोरंजक है। किन्तु इसकी विशेषता घटना-प्राधान्य है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द का अपनी कला पर पूर्ण अधिकार है। कहानियों में एक प्रकार की सरलता सी है। किन्तु जिस आशा को लेकर हम 'सप्त-सरोज' छोड़कर उठे थे, वह अभी पूर्ण नहीं हुई। कलाकार किसी एक लकीर का ही फकीर नहीं होता।

'प्रेम-प्रतिमा' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द ने इस आशा को पूरा किया।

(४)

'प्रेम-प्रतिमा' की कहानियाँ हिन्दी के उस जागृति-काल की हैं, जब 'माधुरी' के प्रकाशन ने हिन्दी में नव-जीवन संचार किया था। इन कहानियों में प्रौढ़ता, रस, विनोद सभी हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मुक्ति-धन', 'डिग्री के रुपये', 'दीक्षा', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ उनकी कला के सर्वोच्च शिखर पर हैं। इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि यह प्रेमचन्द के कला-जीवन का मधुमास था। इन कहानियों में विचित्र स्फूर्ति और हृदय की उमङ्ग है।

'बूढ़ी काकी' में विनोद की झलक है, हृदय की व्यथा भी है। इस संग्रह में अनेक कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें निरा विनोद-भाव है।

'मनुष्य का परम धर्म', 'गुरु-मन्त्र', 'सत्याग्रह' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। इनमें हिन्दुओं के पूज्य पण्डों का अच्छा खाका खींचा गया है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द की भाषा भी खूब निखर गई है। मदिरा का वर्णन देखिए, 'सफेद बिल्लौर के गिलास में बर्फ और सोडावाटर से अलंकृत अरुण-मुखी कामिनी शोभायमान थी। (दीक्षा) और देखिए, 'उषा की लालिमा में, ज्योत्सना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों से चमकते हुए तुषार-बिन्दु में भी वह सुषमा और शोभा न थी, श्वेत-हिम मुकुटधारी पर्वतों में भी वह प्राण-प्रद शीतलता न थी, जो बिन्नी अर्थात् विन्ध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।' (भूत)

इस संग्रह की अनेक कहानियाँ मुस्लिम संस्कृति के चित्र हैं—'क्षमा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात', 'लैला'। प्रेमचन्द की शैली इस विषय के सर्वथा अनुकूल है। कुछ उर्दू साहित्य के संबन्ध से, कुछ गाँधी जी के हिन्दू-मुस्लिम एकता के पाठ से प्रेमचन्द मुस्लिम संस्कृति को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

'शतरंज के खिलाड़ी' बड़े ऊँचे दर्जे की कहानी है। इसमें लखनऊ के नवाबी राज्य का सन्ध्याकाल दिखाया गया है। लेखनी में वही ओज और मार्मिकता है जो हम हसन निज़ामी की पुस्तक 'मुगलों के अन्तिम दिन' में देखते हैं:—'वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विला-सिता के रङ्ग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, सभी विला-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक-व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिसी और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी के आँखों में विलासिता का मद छाया था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं; तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़कीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें जोरों के साथ पेश की जाती थीं।

'बाबाजी का भोग', 'मनुष्य का परम धर्म' और 'गुरु-मन्त्र' प्रेमचन्द की शैली में भारी परिवर्त्तन की द्योतक हैं। इनमें भावों के उतार-चढ़ाव, घटना-चक्र-व्यूह, मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ आदि कुछ नहीं। यह जीवन की केवल झाँकी मात्र हैं। निबन्ध या स्केच से इनका निकट संबन्ध है। इन्हें अँग्रेजी में Slices from life—जीवन के टुकड़े कहते हैं। जैनेन्द्र जी ने इसी कला को अपनाया है। कभी-कभी तो यह कहानी निबन्ध मात्र होती है। इनका न कुछ आदि है, न अन्त। केवल वास्तविक जीवन का एक टुकड़ा काटकर आपके सामने रख दिया गया है।

'मानसरोवर' में इन नवीन शैली की कहानियाँ यथेष्ट संख्या में हैं: 'मुफ्त का यश', 'बड़े भाई साहब', 'गृह-नीति', 'ठाकुर का कुँआ,' 'झाँकी', 'आखिरी हीला', 'गिला' इत्यादि। इन कहानियों का अन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बड़ा स्वाभाविक है। जीवन में मृत्यु, आत्महत्या आदि ही नाटक का-सा अन्त नहीं होते। पहली कहानियों में प्रेमचन्द ऐसा अन्त बहुधा पसन्द करते थे।

'मानसरोवर' के प्राक्कथन में प्रेमचन्द ने कहा है, 'अब हिन्दी गल्प-लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी ज़मीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए अब स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव, स्पर्शी चित्रण है।........'

इस शैली की कहानियों में 'गिला' बड़ी सुन्दर है। यह चरित्र—झाँकी है।

यह स्पष्ट है कि 'मानसरोवर' के रचना-काल में प्रेमचन्द अपनी कला के एक-छत्र अधिपति थे। 'गोदान' से यह भावना और दृढ़ हो जाती है। 'अलग्योझा', 'ईदगाह' आदि कहानी उनकी कला के शिखर पर हैं। यह लगभग उसी कोटि की हैं जिसमें शरत् बाबू की कहानी 'विन्दो का लड़का' है, वही स्वाभाविकता, वही सरलता, कथा में वही धारा-प्रवाह।

हिन्दी के दुर्भाग्य से जब प्रेमचन्द की कला इतनी परिपक्व, उनकी शैली इतनी प्रौढ़ और उनकी भाषा इतनी रसमय हो गई थी, उनका निधन हो गया।

(५)

कलाकार अपने स्वतन्त्र जग की सृष्टि करता है। एक क्षण के लिए प्रेमचन्द के आदर्श संसार को देखिए।

यहाँ कृषक-वृन्द ऋण और कष्ट से मुक्त, सुखी और स्वतन्त्र हैं। पूस की रात में वह आग के सामने तापते हुए पूर्वजन्म की कथा कहते हैं और सुख के गाने गाते हैं। जमींदारों का और सरकारी कर्मचारियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का मान-मर्दन हो चुका। वह किसी अतीतकाल की कथा के समान मिथ्या और दूर है। वह राम-राज्य का पुनरागमन है।

मध्यवर्ग उदार, दयापूर्ण और सुसंस्कृत है। इनके जीवन पर भारत की प्राचीन संस्कृति की छाप है। यहाँ भारत की आत्मा भारतीय कलेवर में दीखेगी। पश्चिम के भौतिक रंग का यहाँ नाम-निशान भी नहीं।

यदि इस संसार में कोई रईस है, तो बिड़ला-बन्धुओं की भाँति दानी और दयालु है।

इस जग में कोई झगड़ा, कलह और अशान्ति नहीं। यहाँ हिन्दू और मुस्लिम एक दूसरे की संस्कृति को स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते हैं।

यहाँ आपको सब प्रकार के जीव मिलेंगे। दफ्तरी, धोबी, बौड़म, ओझे, किसान, कहार, चमार; किन्तु सभी नीयत के साफ़ और हृदय के उदार।

मुस्लिम संस्कृति के यहाँ आपको बड़े उच्च आदर्श दीखेंगे। किस प्रकार दाऊद ने अपने पुत्र की हत्या करनेवाले को क्षमा कर दिया, तैमूर का पाषाण-हृदय कैसे हमीदा के विचारों से पिघला, लैला के संगीत से किस प्रकार फारस का राजकुमार मोहित होकर फ़कीर हो गया।

क्या यह जग केवल कल्पना-मात्र है? साम्यवाद के भक्त इस जग में विश्वास नहीं करते। यह कल्पना मात्र है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने प्रेमचन्द को मूक जनता का प्रतिनिधि कहा है। प्रेमचन्द का क्षेत्र ग्रामीण-जगत और किसानों का हृदय है। यहाँ वे अद्वितीय हैं। किन्तु मध्य और कुलीन वर्ग के भावों की जिस गहराई में रवि बाबू अथवा शरत् बाबू पैठते हैं, वह प्रेमचन्द का क्षेत्र था ही नहीं।

मनुष्य में प्रेमचन्द का अटल विश्वास है। अपने संसार में अनेक उदार-चित्त मनुष्यों को उन्होंने बसाया है। अवसर पड़ने पर यह सब बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'पंच-परमेश्वर' अवसर पर कोई नीचा नहीं रहता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार के चित्रण के लिए स्वयं अपने पास विशाल हृदय होना चाहिए। यही प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विभूति है। [संकलित]

—:o:—

प्रसाद के नाटक

मूलचेतना—शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबाकर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत् को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।

प्रसाद अपने मूल-रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस, शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गए और उसको पचा कर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नीला हो गया हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था। वे बड़े गहरे जीवनद्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह विष उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बनकर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी थी। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना हीं उनके आदर्श की व्याख्या करता है और यही उनके साहित्य की मूल-चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्व नहीं देगा। प्रायः वह उसको छोड़ कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा। एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमान्टिक होना अनिवार्य है। वर्त्तमान से विमुख होने के कारण—जैसे रोमान्टिक व्यक्ति के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जायगा या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमान्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

नाटकों का आधार—प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य-संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है—चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्धन तक—जिसमें उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी ; ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है :—"ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संघटन कर लेगा।" दूसरी ओर भगवान बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है : "विश्व के कल्याण में अग्रसर हो ! असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो ! यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे ! ...... विश्व-मैत्री हो जायगी—विश्वभर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा !" इन्हीं दोनों धूप-छाँही डोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विरामस्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा। इसीलिए उनके नाटकों में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। कामना का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्त्तमान इतिहास ही नहीं भूत इतिहास भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्व-ज्ञान का आधार प्रचीन शिलालेख, पाणिनी-व्याकरण, पतञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर, राजतरङ्गिणी, पुराण, प्राचीन काव्य-ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के प्रति सिर्फ रोमान्टिक मोह ही नहीं था—चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोजें अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़ कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण सञ्चार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य एवं गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र-संस्कृति इन तीनों को लाँघकर आर्य संस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनुरुत्थान इतने सहज ढङ्ग से होता है कि दो हजार वर्ष का महान् अन्तराय एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं; उनके पात्रों के नाम, उपाधि, वेशभूषा, चरित्र और बात-चीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृति, कुमारामात्य आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युग-जीवन का, युग-धर्म का प्रभाव प्रसादजी पर बिल्कुल नहीं। जैसा अभी कहा गया, प्रसादजी गहरे जीवन-द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देश-भक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एकबार आहत हो कर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठकर प्रसादजी की देश-भक्ति अमर स्वरों में फूट पड़ती है :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला ! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध ?

सिंहरण—ठहरो मालव वीरो, ठहरो ! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।"

यह प्रसङ्ग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं, परन्तु इसमें बोलती हुई देश-भक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप हिन्दी-साहित्य में दुर्लभ है।

इसी प्रकार आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी प्रसादजी के चन्द्रगुप्त में अनेकों तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्व एक-राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

"मालव और मागध को भूल कर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।"

"आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद नहीं करेंगे।"

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़-प्रवचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसाद की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातवरण में पूरी तरह से फिट कर दी गई हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असङ्गति मानते हैं, वे वास्तव में मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता मात्र प्रकट करते हैं।

सुख-दुःख की भावना—प्रसाद के नाटकों के मूलतत्व को समझने के लिए उनकी सुख-दुःख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं। परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है ? नहीं। नाटक के ऊपर दुःख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई अनिवार्यतः मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिल्कुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त-भावना प्रायः वैराग्य-पूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—बौद्ध-इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य-दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का संघर्ष और समन्वय है जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाववश उनके नाटक न पूर्णतः सुखांत हैं और न दुखांत। उसमें सुख-दुख जैसे एक-दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते। कवि आग्रह-पूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है परन्तु दुःख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है।

"सिल्यूकस (कॉर्नेलिया की ओर देखता है, वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलाता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि!)

चाणक्य—"(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो, अब हमलोग चलें।"

इस प्रकार आप देखते हैं कि ये नाटक सुखांत अथवा दुःखांत न हो कर प्रसादांत हैं। इसका एक प्रमाण और है, वह है रस का परिपाक। इन नाटकों में मुख्य रस दो हैं : शृङ्गार और वीर (देशभक्ति)। इन दोनों में भावना अत्यन्त गाढ़ी और तीव्र है। शृङ्गार में एक ओर अपने को लय कर देने की तीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गन्ध और रूप-यौवन के गहरे चित्र, जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता-देशाभिमान अथवा आत्म-गौरव की अभिव्यक्ति भी अन्तर की ही पुकार है। सिंहरण अथवा बन्धुवर्म्मा की देशभक्ति कर्त्तव्य-पूर्ति नहीं, आत्मा का आग्रह है। उनकी उक्तियाँ केवल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीति-मुखर ही नहीं हैं, उनमें हृदय का आक्रोश भी है। परन्तु इन दोनों के साथ तीसरा रस शान्त रस-भी अनिवार्य रूप से मिलता है जो इन दोनों पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो या परुष, उबल कर सीमा तोड़ना चाहता है तभी शांत रस के छींटे उसे शान्त और संयत कर देते हैं। स्वभावतः यहाँ रस का प्रवाह आवेग से परिशांति की ओर बहता हुआ मिलता है। यही प्रसाद के नाटकों का 'प्रसादांत' होना है!

चरित्र-प्रधान नाटक—स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है।

प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे महान् स्रष्टा थे। उन्होंने अपने नाटकों में अनेक अमर-पात्रों की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतन्त्र एवं प्राणवान् व्यक्तित्व रखते हैं—दार्शनिक बिम्बसार और सनकी तत्वज्ञानी दाण्डायन का व्यक्तित्व कितना साफ और तीखा है। कारण यह है कि पात्रों में प्राण फूँकनेवाली प्रतिभा की सजीवता और तीव्रता अद्वितीय थी। प्रसादजी के जीवन-रथ की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घर तक सीमित रही हो, परन्तु उनका भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिर-गतिशील था। उसकी गति प्रेमचन्द की तरह विस्तार में अधिक नहीं बढ़ी, परन्तु अन्दर गहराई में बहुत दूर पहुँच गई थी। वे अत्यन्त प्राणवान् कलाकार थे, उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रों की रूप-रेखा को काट-छाँट कर इतना तीखा कर दिया था।

एक दूसरे प्रकार से भी स्रष्टा ने अपने-आप को सृष्टि में व्यक्त किया है: प्रसाद के दर्शन-कवित्वमय व्यक्तित्व को थोड़ा-बहुत अंश उनके सभी पात्रों ने प्राप्त किये हैं।

पुरुष-पात्र प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं :—

(१) जीवन के तत्वों को सुलझाने वाले तत्व-वेत्ता आचार्य,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर जूझनेवाले कर्मठ सैनिक, और

(३) राजपूतों को राजनीति के दाँव-पेच सिखाने वाले कूटनीतिज्ञ।

स्त्रियों में भी स्पष्टतः कई श्रेणियाँ हैं :—

(१) राजनीति की आग से खेलने वाली राज-महिषियाँ,

(२) जीवन-युद्ध में प्रेम का सम्बल लेकर कूदनेवाली स्वाभिमानिनी, राजपुत्रियाँ,

(३) जीवन के भँवर में पड़ी हुई मध्यवर्गीय दुर्बल नारियाँ और

(४) अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में एक करुण गन्ध छोड़ जाने वाली फूल-सी सुकुमारियाँ।

बौद्ध और शैव दर्शनों के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं। उधर निरन्तर कर्म में रत किन्तु फल की ओर से विरक्त सैनिक-रूप राजपुत्रों को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग परिपुष्ट पौरुष प्राप्त हुआ है। नारी-पात्रों में आप को उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणों में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी। इस प्रकार प्रसाद जी ने सभी चरित्रों में अपने व्यक्तित्व की साँस फूँक दी है स्वभावतः उनमें वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ में नाटकीय कहा जाता है। जहाँ शेक्सपियर जैसे नाटककारों में, कौन-सा चरित्र उनकी प्रतिच्छाया है यह पता लगाना असम्भव है, यहाँ आप प्रसाद जी के अव्यक्तित्व की झलक स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य—किसी भी चरित्र में थोड़ी-बहुत देख सकते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक अव्यक्त रह सकते थे।

प्रसाद के काव्य में विराट् और कोमल का अपूर्व संयोग है। जिस लेखक ने कामायनी के विराट् रूपक की सृष्टि की है उसी ने अनेक मधु-स्निग्ध गीतियों की उद्भावना भी की है। अतएव आप को उनके नाटकों में इन दोनों तत्त्वों का अपूर्व योग मिलेगा। उनके दो प्रकार के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्र साहित्य की अमर-विभूतियाँ हैं :—

(१) सम्पूर्ण चित्र, (२) रेखा-चित्र।

पहले चित्र कवि की विराट् भावना की प्रसूति हैं। उनमें सम्पूर्ण चरित्र-विकास शक्ति के आधार पर होता है। स्वभावतः यह चित्र समस्त नाटक के दीवार को घेरे रहता है। चाणक्य और स्कन्दगुप्त ऐसे ही दो चित्र हैं। अजातशत्रु का मल्लिका में विस्तार तो नहीं परन्तु शक्ति असीम है। इनमें महान् कोमल का एक स्पर्श-भर पाकर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसाद जी की सूक्ष्म-कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोद्भास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएँ अथवा विभिन्न रंग नहीं हैं, इनमें एक रेखा है और एक धुँधला रेशमी रंग है—एक ही स्वर है। 'संगीत-सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फलों का म्लान सौरभ—इन सबों की प्रतिकृति' हैं ये नारी-चरित्र। देवसेना, कोमा और मल्लविका—ये तीन चित्र प्रसाद के नाटकों में ट्रैजेडी की प्रतिमाएँ हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यंग्य है।

मधु-सिंचन :—प्रसाद के नाटक सभी मधु-सिंचित हैं। वे मूल रूप में कवि हैं, अतः उनके नाटकों में काव्य की गहराई एवं पृथुल अन्तर्धारा वह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी में कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया; अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है।

सबसे प्रथम उनके गीतों को ही लीजिये। यह सत्य है कि ये सभी गीत नाटकीय नहीं हैं। कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये हैं, परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूप-यौवन का चटकीला रंग एवं विलास की उष्ण गन्ध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भाँति संचरण करती रहती है।

यही बात वस्तु-विधान और चरित्राङ्कन में है। प्रसाद की घटनाएँ रोमान्स और रस से परिपुष्ट हैं। अँधेरी रात में मागंधी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की विदाई, मालविका का वलिदान—सभी-कुछ एक मूक-कविता हैं। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का प्रभूत संचार हो रहा है। इनमें से कतिपय तो एकान्त कवित्व-मय हैं। उनका अस्तित्व ही नाटक में कविता की साँस फूँकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी-पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर क्षण फूल के समान खिल कर अपना सौरभ छोड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रायः और सब पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व में भी वाल्यकाल की स्मृतियाँ भाँवरियाँ ले रही हैं। ये नाटक गद्य-गीतों का अक्षय भाण्डार हैं।

उदाहरण के लिए—

१—"अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका रजनी की छाया में छिप कर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल 'कौन'? कह कर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी! फिर उसी प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरन्द -सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर, उस कम्पन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है और राजकुमारी वही काम-संगीत की तान सौंदर्य की लहर वन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिये। वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धान्त का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं, काव्य का आग्रह है। देखिए स्कन्दगुप्त का अन्तिम दृश्य :—

"स्कन्दगुप्त देवी, यह न कहो। जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुःखी लोग, एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की बसन्तश्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ। (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से रोकूँ ?............

......देवसेना! देवसेना!! तुम जाओ। हत-भाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द ओह !!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है; तपस्या अग्नि है। सम्राट्, यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए! मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा!

(घुटने टेकती है; स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है।")

दोष :—प्रसाद के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं।

सबसे पहला दोष रंगमंच विषयक है। उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ हैं। उनमें युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मञ्च पर काफी गड़बड़ करेंगे। दूसरी उनकी अपरिवर्त्तनशील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चाञ्चल्य नहीं है। अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है।

दूसरा बड़ा दोष है एकता का अभाव। उसके लिए शायद उत्तरदायी है प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुःख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे। राज्यश्री या ध्रुवस्वामिनी में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया। ध्रुवस्वामिनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एक सार है। परन्तु स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे बड़े नाटकों में घटना-बाहुल्य में फँसकर नाटक की एकता अस्त-व्यस्त हो गई है। इन दोनों नाटकों में ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक हैं। स्कन्दगुप्त में धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगों का क्या प्रयोजन है? चन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच में इतना महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि कथा-वस्तु वहाँ एक बार दम तोड़ कर फिर उठती है।

तीसरा प्रमुख दोष यह है कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गति-विधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिए या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़ कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का जबर्दस्ती गला घोंटना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।

महत्त्व :—इस प्रकार इन नाटकों का महत्त्व असम है। एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देख कर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं। प्रसाद की ट्रैजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट्-मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय हैं ही, अन्य भाषाओं के नाटकों की तुलना में भी उनकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती। [संकलित]

—:o:—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्धारित संस्कृत खंड
और
हिन्दी अनुवाद तथा संधि-विग्रह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि १ शशिनः कला ॥
श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं, नीति विद्यां ददाति च ॥

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामि-गुणोपेतः २ सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् ३ । स भूपतिरेकदा ४ केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव—

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव ५ सः ॥
यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय ६ किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

अनुवादः—जिसके सिर पर चन्द्रमा की कला गंगा के फेन की रेखा की तरह विद्यमान है उस शंकर जी की कृपा से सज्जनों के कार्य सफल हों । सुना गया है यह हितोपदेश ग्रंथ संस्कृत भाषा में निपुणता, वाणी में वैचित्र्य और नीति-विद्या प्रदान करता है ।

भागीरथी नदी के किनारे पाटलिपुत्र नामक नगर है । वहाँ राजा के सभी गुणों से विभूषित सुदर्शन नामक राजा था । उस राजा ने एक दिन किसी के द्वारा पढ़े जाते हुए दो श्लोकों को सुना ।

अनेक संदेहों को दूर करनेवाला तथा इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष न जानने योग्य परोक्ष विषयों का ज्ञान करानेवाला शास्त्र ही सब लोगों की असली आँख है । जिसको यह आँख नहीं, वह अन्धा ही है । युवावस्था, धन-दौलत, अधिकार और अविवेकिता में से प्रत्येक अनर्थ का कारण है । जहाँ चारों हों, वहाँ का क्या कहना है ?

संधि विग्रहः—(१) यत्+मूर्ध्नि । (२) गुण+उपेतः । (३) नरपतिः+आसीत् । (४) सः+भूपतिः+एकदा । (५) न+अस्ति+अन्धः+एव । (६) एक+एकम्+अपि+अनर्थाय ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्याकर्ण्यात्मनः १ पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां २ नित्यमुन्मार्गगामिनां ३ शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः ४ स राजा चिन्तयामास ।

कोऽर्थः ५ पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः ।
काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पीडैव केवलम् ॥
अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः ६ ।
सकृद् दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु ७ पदे पदे ॥

तत्कथमिदानीमेते ८ मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् । एतच्चिन्तयित्वा ९ स राजा पण्डितसभां कारितवान् । राजोवाच—भोः भोः पण्डिताः श्रूयताम् । अस्ति कश्चिदेवंभूतो विद्वान् १० यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन ११ पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः । यतः ।

इतना सुनकर अपने शास्त्रज्ञान विहीन एवं नित्य कुमार्गगामी पुत्रों को शास्त्राध्ययन नहीं कराने से व्याकुल मन हो कर उस राजा ने सोचा ।

जो विद्वान् या धार्मिक नहीं हुआ, उस उत्पन्न हुए पुत्र से क्या लाभ ? कानी आँख से ही क्या फायदा ? वह तो आँख को केवल क्लेश ही देती है ।

नहीं जनमे हुए, जनम कर तुरत मर गए हुए, जन्म लेकर मूर्ख बने हुए पुत्रों में प्रथम दो तो अच्छे हैं, पर अंतवाला नहीं । क्योंकि प्रथम दो तो केवल एक बार दुःख देते हैं, किन्तु अंतवाला तो पद-पद पर क्लेश देता है ।

तो किस प्रकार मेरे ये पुत्र गुणी बनाये जायँ ? यह सोच कर उस राजा ने पंडितों की एक सभा बुलाई । राजा ने कहा—हे विद्वानो, आप लोग सुनिये । क्या कोई ऐसा विद्वान् है, जो मेरे कुमार्गगामी और शास्त्र-ज्ञान-विहीन पुत्रों को नीतिशास्त्र के उपदेश द्वारा नया जन्म देने में समर्थ हो ? क्योंकि

सन्धि-विग्रहः—(१) इति+आकर्ण्य+आत्मनः । (२) पुत्राणाम्+अनधिगतशास्त्राणां । (३) नित्यम्+उन्मार्गगामीनाम् । (४) शास्त्रान्+अनुष्ठानेन+उद्विग्नमनाः । (५) कः+अर्थः । (६) च+अन्तिमः । (७) सकृत्+दुःखकरौ+आद्यौ+अन्तिम+अस्तु । (८) तत्+कथम्+इदानीन्+एते । (९) एतत्+चिन्तयित्वा । (१०) कश्चित्+एवं+भूतः+विद्वान् । (११) नित्यम्+उनमार्गगामीनाम्+अनधिगत+शास्त्राणाम्+इदानीं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काचः काञ्चन संसर्गाद्धत्ते १ मारकतीं द्युतिम् ।
तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकल नीति शास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाऽब्रवीत् २—देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्राः, तन्मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते । यतः—

नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत् ।
न व्यापारशतेनापि ३ शुकवत् पाठ्यते वकः ॥

अतोऽहं षण्मासाऽभ्यन्तरे ४ तव पुत्रान् नीतिशास्त्राभिज्ञान् करिष्यामि । राजा सविनयं पुनरुवाच ।

कीटोऽपि सुमनः सङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥

कांँच सोने के संसर्ग से मरकत मणि की शोभा धारण करता है । उसी प्रकार सज्जनों के सम्पर्क से मूर्ख भी प्रवीण हो जाता है ।

इसी बीच विष्णु शर्मा नामक महाविद्वान् जो समस्त नीति शास्त्र के तत्त्व को जानने वाले थे बृहस्पति की भाँति बोले—महाराजा उच्च कुल में उत्पन्न ये राजकुमार हैं, अतएव मैं इन्हें नीति विद्या सिखाने में समर्थ हूँ । क्योंकि—

अयोग्य पात्र में निहित कोई भी कार्य सफल नहीं होता । सैकड़ों चेष्टाएँ करने पर भी बगुला सुग्गे की तरह नहीं पढ़ सकता ।

अतः मैं छः महीने के अन्दर ही तुम्हारे पुत्रों को नीतिशास्त्र का जानकार बना दूँगा । राजा ने विनय पूर्वक फिर कहा--

कीड़ा भी फूल के साथ-साथ सज्जनों के मस्तक पर चढ़ जाता है । पत्थर भी बड़े लोगों की प्रतिष्ठा पा कर देवत्व को प्राप्त होता है ।

संधि-विग्रह—(१) संसर्गात्+धत्ते । (२) बृहस्पतिः+इव+अब्रवीत् । (३) व्यापारशतेन+अपि । (४) षट्+मासाभ्यन्तरे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां १ नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम्। इत्युक्त्वा २ तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरस्सरं पुत्रान् समर्पितवान्। अथ प्रासाद पृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत् ३

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणाम् निद्रया कलहेन वा॥

तद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि। राजपुत्रैरुक्तम्—आर्य कथ्यताम्। विष्णुशर्मोवाच—शृणुत। सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते। यस्यायमाद्यः ४ श्लोकः।

तो हमारे इन पुत्रों को नीति-शास्त्र के उपदेश के लिए आप ही दायित्व स्वीकार करने वाले हैं। यह कह कर उस विष्णु शर्मा के हाथ में बड़े आदर के साथ उसने पुत्रों को सौंप दिया। बाद में महल की छत पर सुख से बैठे हुए राजकुमारों के समक्ष पंडित ने प्रारंभ करने की प्रस्तावना क्रम में कहा—

बुद्धिमानों का समय काव्य-शास्त्र के आनन्द में और मूर्खों का दुर्व्यसन, नींद वा झगड़े में बीतता है।

तो आप लोगों के विनोद के लिए कौए, कछुए आदि की विचित्र कथा कहता हूँ। राजकुमारों ने कहा—महाशय, आप के द्वारा कहा जाय।

विष्णु शर्मा बोले—सुनो, इस समय मित्रलाभ आरंभ किया जाता है, जिसका यह पहला श्लोक है—

संधि-विग्रहः—(१) तत्+एतेषाम्+अस्मत्+पुत्राणाम्।
(२) इति+ उक्त्वा।
(३) सः+पण्डितः+अब्रवीत्।
(४) यस्य+अयम्+आद्यः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।
साधयन्त्याशु १ कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत् ॥

राजपुत्रा ऊचुः । कथमेतत् ? विष्णु शर्मा कथयति ।

अस्ति गोदावरी तीरे विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र नानादिग्देशादागत्य २ रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिदवसन्नायां ३ रात्रावस्तचलचूडावलम्बिनि ४ भगवति चन्द्रमसि लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं व्याधमपश्यत् तमवलोक्याचिन्तयत् ५ अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं ६ जातं न जाने किमनभिमतं ७ दर्शयिष्यति । इत्युक्त्वा ८ तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः ९ । अथ स व्याधस्तराडुलकणान् १० विकीर्य जालं विस्तीर्य च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः ।

जो साधनहीन और धनहीन होकर भी बुद्धिमान और अच्छे मित्र वाले होते हैं, वे कौए, कछुवे, हिरण और चूहे की तरह शीघ्र काम कर डालते हैं ।

राजकुमारों ने कहा—यह कैसे ? विष्णु शर्मा कहने लगा ।

गोदावरी नदी के किनारे बहुत बड़ा सेमर का वृक्ष था । वहाँ अनेक दिशाओं से आकर पक्षी रात में निवास करते थे । एक समय रात बीत जाने पर भगवान् चन्द्रमा के अस्ताचल शिखर पर विश्रम ले लेने पर लघुपतनक नाम का कौआ जागा और दूसरे यमराज की तरह घूमते हुए व्याधे को देखा तथा उसे देख कर सोचने लगा—आज सबेरे ही अशुभ दर्शन हो गया । न मालूम क्या अनिष्ट दिखायेगा । यह कह कर उसके पीछे-पीछे व्याकुल हो कर चल पड़ा । बाद में उस व्याधा ने चावल के कणों को बिखेर कर जाल फैला कर छिपकर वहीं बैठ गया ।

सन्धि-विग्रहः—(१) साधयन्ति+आशु । (२) नानादिक्+देशात्+आगत्य । (३) कदाचित्+अवसन्नायां । (४) रात्रौ+अस्ताचलचूडावलम्बिनि । (५) तम्+अवलोक्य+अचिन्तयत् । (६) प्रातः+एव+अनिष्ट दर्शनं । (७) किम्+अनभिमतम् । (८) इति+उक्त्वा । (९) व्याकुलः+चलितः । (१०) व्याधः+तंडुलकणान् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणलुब्धान् १ कपोतान् प्रत्याह २–कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां सम्भवः। तन्निरूप्यतां ३ तावत्। भद्रमिदं न पश्यामि। प्रायेणानेन ४ तण्डुलकणलोभेनास्माभिरपि ५ तथा भवितव्यम्।

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः स मृतो यथा॥

कपोता ऊचुः— कथमेतत् ? सोऽब्रवीत्— अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम् ६ एको वृद्धो व्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते। भोः भोः पान्था इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्।

इसी समय चित्रग्रीव नामक कबूतरों का राजा परिवार-सहित आकाश में मँड़राते हुए उन चावलों के कणों के लोभी कबूतरों से बोला—इस निर्जन वन में चावल के कणों का होना कैसे संभव है ? इसलिए तब तक विचार करो। हम इसमें भलाई नहीं देखते। कहीं चावल के इन कणों के लोभ से हम लोगों को भी वैसा न होना पड़े, जैसा —

कंकण के लोभ से कठोर कीचड़ में धँसा हुआ वह राहगीर बूढ़े बाघ से पकड़ा कर मार डाला गया।

कबूतरों ने कहा—यह कैसे ? उसने कहा—एक दिन दक्षिण के जंगल में चरता हुआ मैंने देखा कि एक बूढ़ा बाघ स्नान करके कुश हाथ में लेकर तालाब के किनारे बोल रहा है—ऐ राहगीरो, इस सोने के कंगन को ले जाओ।

सन्धि-विग्रहः—(१) विसर्पः+तान्+तण्डुलकणलुब्धान्।
(२) प्रति+आह।
(३) तत्+निरूप्यतां।
(४) प्रायेण+अनेन।
(५) तण्डुलकणलोभेन+अस्माभिः+अपि।
(६) चरन्+अपश्यम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततो लोभाकृष्टेन केनचित् पान्थेनालोचितम् १— भाग्येनैतत् २ सम्भवति। किन्त्वस्मिन् ३ आत्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न ४ विधेया। तन्निरूपयामि ५ तावत्। प्रकाशं ब्रूते – कुत्र तव कङ्कणम्? व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति। पान्थोऽवदत्—कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः।

व्याघ्र उवाच--श्रृणु रे पान्थ! प्रागेव यौवनदशायामतिदुर्वृत्तोऽभूवम् ६। अनेक गोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृताः दाराश्च। वंशहीनश्चाहम्। ततः केनचिद्धार्म्मिकेणाहमुपदिष्टः ७ दानधर्म्मादिकञ्चरतु भवान्। तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो न कथं विश्वासभूमिः। मम चैतावान् ८ लोभविरहो येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद्दातुमिच्छामि ९। तथापि व्याघ्रो मानुषं खादतीति लोकापवादो दुर्निवारः। मया च धर्म्मशास्त्राण्यधातानि १०। शृणु--

---

तब लोभ से आकृष्ट होकर किसी राही ने विचारा—भाग्य से ही यह संभव होता है। किन्तु अपने नाश की शंका से भरे हुए इसमें हाथ डालना ठीक नहीं। तो, इस पर तब तक सोचता हूँ। उसने प्रकट कहा—

कहाँ है तुम्हारा कंगन? बाघ ने हाथ फैला कर दिखाया। राही ने कहा—तुम हिंसक जीव पर कैसे विश्वास किया जाय?

बाघ बोला—सुन रे पथिक, पहले जवानी के दिनों में मैं बहुत दुराचारी था। अनेक गायों और मनुष्यों की हत्या करने से मेरे स्त्री-पुत्र मर गये। मैं वंशहीन हो गया। उसके बाद किसी धर्मात्मा ने मुझे उपदेश दिया कि 'दान-धर्म आदि आप करें। उसी उपदेश से मैं दानी हूँ, और स्नान करके दाता' बना हूँ। बूढ़ा हूँ, घिसे हुए नख और दाँत वाला हूँ तो क्यों नहीं विश्वास का पात्र हूँ? मुझे लोभ से ऐसी विरक्ति है कि अपने हाथ में स्थित इस सुवर्ण-कंकण को जिस किसी को भी दे देना चाहता हूँ। फिर भी बाघ मनुष्य को खा जाता है—यह लोकापवाद तो मिटाये नहीं मिटने को। मैंने धर्मशास्त्र भी पढ़े हैं। सुनो—

संन्धि-विग्रहः—(१) पान्थेन+आलोचितम्। (२) भाग्येन+एतत्। (३) किन्तु+अस्मिन्। (४) प्रवृत्तिः+न। (५) तत्+निरूपयामि। (६) यौवनदशायां+अतिदुर्वृत्तः+अभूवम्। (७) केनचित्+धार्म्मिकेण+अहम्+

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा १ भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन २ भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः॥

त्वञ्चातीव दुर्गतः तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण।

ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभाद् सरः स्नातुं प्रविशति तावन्महापङ्के निमग्न पलायितुमक्षमः।

तं पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—अहह! महापङ्के पतितोऽसि अतस्त्वामहमुत्थापयामि ३। इत्युक्त्वा ४ शनैः शनैरुपगम्य ५ तेन व्याघ्रेण धृतः स पान्थो व्यापादितः खादितश्च। अतः सर्वथा अविचारितं कर्म न कर्तव्यमिति।

उपदिष्टः। (८) च+एत वान्। (९) कस्मैचित्+दातुम्+इच्छामि। (१०) धर्मशास्त्राणि+अधीतानि।

अपने प्राण जैसे प्यारे हैं, उसी तरह दूसरे जीवों के भी हैं। साधुजन अपने समान ही दूसरे जीवों पर दया करते हैं।

तुम भी बहुत गरीब हो, इसी से तुम्हीं को देने का यत्न मैं कर रहा हूँ। तो, इस तालाब में स्नान कर के इस सोने के कंगन को लो।

तब उसके वचन पर विश्वास कर लोभ से वह तालाब में नहाने के लिए जैसे ही घुसा तैसे ही भारी कीचड़ में फँस कर वह भागने में असमर्थ हो गया। उसे दलदल में फँसे देख कर बाघ बोला—ओह तुम बडे कीचड़ में फँस गये हो। इसलिए तुम्हें निकालता हूँ। यह कह कर धीरे-धीरे उसके पास जाकर बाघ ने पकड़ कर उस राही को मार डाला और खा भी डाला। इसलिये कभी भी बिना विचारे काम नहीं करना चाहिए।

सन्धि-विग्रह—(१) यथा+आत्मनः+अभीष्टा।
(२) आत्म+औपम्येन।
(३) अतः+त्वाम्+अहम्+उत्थापयामि।
(४) इति+उक्त्वा।
(५) शनैः+उपगम्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चिद् कपोतः सदर्पम् आह—आः किमेवमुच्यते ? १ ।

वृद्धस्य वचनं ग्राह्यमापत्काले २ ह्युपस्थिते ३ ।
सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ४ ॥

यतः—

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं ५ पानञ्च भूतले ।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ॥

अनन्तरं सर्वे तण्डुलकणलोभेन नभोमण्डलादवतीर्य ६ जालनिबद्धा बभूवुः । ततो यस्य वचनातत्रावलम्बितास्तं ७ सर्वे तिरस्कुर्वन्ति स्म ।

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच । नायमस्य ८ दोषः ।

यह बात सुन कर कोई कबूतर गर्व से बोला—आह ! क्यों ऐसा बक रहा है ? आपति काल उपस्थित होने पर ही वृद्धों की बात माननी चाहिए । सब जगह यदि इसी तरह विचार किया जाय तो भोजन में भी अप्रवृत्ति होगी । क्योंकि—

इस पृथ्वी पर खाने-पीने की सभी चजें शंकाओं से भरी हुई हैं । तो आदमी किधर प्रवृत्ति करे और किस प्रकार जीवन रखे ?

इसके उपरान्त सभी कबूतर चावल के कणों के लोभ से आकाश-मंडल से उतर कर जाल में फँस गये । इसके बाद सभी उसका तिरस्कार करने लगे जिसकी बात मान कर वे उतर पड़े थे ।

उसका तिरस्कार सुन कर चित्रग्रीव ने कहा—इसमें इसका दोष नहीं ।

संन्धि-विग्रहः—(१) किम्+एवम्+उच्यते । (२) ग्राह्यम्+आपत्काले । (३) हि+उपस्थिते । (४) भोजने+अपि+अप्रवर्तनम् । (५) सर्वम्+आक्रान्तम्+अन्नं । (६) नभः+मंडलात्+अवतीर्य । (७) वचनात्+अत्र+अवलंबिताः+तं । (८) न+अयम्+अस्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपदामापतन्तीनां १ हितोऽप्यायाति २ हेतुताम् ।
मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम् । तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम् ३ ।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये ४ क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं ५ श्रुतौ
प्रकृति सिद्धमिदं ६ हि महात्मनाम् ॥

अन्यच्च—

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥

सिर पर गिरने वाली विपत्तियों का कारण हितैषी भी बन जाता है, जैसे बछड़े के बन्धन के लिए गाय की जाँघ ही खूँटे का काम करती है ।

विपत्ति के समय में विस्मय से भर जाना डरपोक मनुष्यों का लक्षण है। इसलिए यहाँ धीरज धर कर उसका उपाय सोचा जाय ।

विपत्ति में धैर्य, उन्नति में क्षमा, सभा में वचन-चातुरी, युद्ध में पराक्रम, यश की चाह में अभिरुचि और वेदों-शास्त्रों के अध्ययन में दृढ़ लगन, ये ही लक्षण हैं, प्रकृति हैं, महात्माओं के । और भी—

इस संसार में उन्नति चाहने वाले पुरुष को छः दोष—निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और देर से काम की आदत—छोड़ देना चाहिए ।

सन्धि-विग्रह—(१) आपदाम्+आपतन्तीनां ।
(२) हितः+अपि+आयाति ।
(३) प्रतीकारः+चिन्त्यताम् ।
(४) धैर्यम्+अथ+अभ्युदये ।
(५) च+अभिरुचिः+व्यसनं ।
(६) सिद्धं+इदं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदानीमेवं क्रियताम् सर्वै रेकचित्तीभूय १ जालमादाय उड्डीयताम्। इतिश्रुत्वा पक्षिणः सर्वे जालमादाय उत्पतिताः। अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तानवलोक्य २ पश्चाद्धावन्नचिन्तयत् ३।

संहतास्तु ४ हरन्त्येते ५ जालं मम विहङ्गमाः।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा।

ततस्तेषु ६ चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु ७ पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः।

अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—किमिदानीं कर्तुमुचितम् ? चित्रग्रीव उवाच—अस्माकं मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति। सोऽस्माकं ८ पाशांश्छेत्स्यति ९। इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः। हिरण्यकश्च सर्वदाऽपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति। ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः।

इस समय ऐसा करें; सभी पक्षी एकचित्त होकर जाल लेकर उड़ चलें। यह सुन कर सभी पक्षी जाल लेकर ऊपर की ओर उड़ चले। इसके बाद वह व्याध बहुत दूर से जाल को अपहरण करने वाले उन कबूतरों को देखकर पीछे-पीछे दौड़ता हुआ सोचने लगा।

ये पक्षी मेरे जाल को मिल कर लिए जा रहे हैं। जब गिरेंगे तो अवश्य ही मेरे अधीन हो जायँगे।

तब उन पक्षियों के आँख से ओझल हो जाने पर वह व्याध लौट गया।

इसके बाद व्याध को लौटते देख कर कबूतर बोले—इस समय क्या करना उचित है ? चित्रग्रीव ने कहा--हमारा मित्र हिरण्यक चूहों का राजा गंडकी नदी के किनारे चित्रवन में रहता है। वह हमलोगों के बन्धन को काटेगा। हिरण्यक भी हमेशा अनिष्ट के भय से सौ द्वार का बिल बना कर रहता था। उसके बाद कबूतरों के नीचे गिरने के कारण डर से चौंक कर हिरण्यक चुप होकर ठहर गया।

सन्धि-विग्रहः--(१) सर्वैः+एकचित्तीभूय। (२) सुदूरात्+जाल+अपहारकान्+तान्+अवलोक्य। (३) पश्चात्+धावन्+अचिन्तयत्। (४) संहताः+तु। (५) हरन्ति+एते। (६) ततः+तेषु। (७) चक्षुः+विषयम्+अतिक्रान्तेषु। (८) सः+अस्माकम्। (९) पाशान्+छेत्स्यति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्रग्रीव उवाच—सखे हिरण्यक, कथमस्मान्न १ सम्भाषसे ? ततो हिरण्यकस्तद्वचन प्रत्यभिज्ञाय २ ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्—आः पुण्यवानस्मि, प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः ।

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापः ततो नास्तीह पुण्यवान् ॥

अथ पाशबद्धांश्चैतान् ३ दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वा उवाच—सखे किमेतत् ? चित्रग्रीव उवाच—सखे अस्माकमविमृश्यकारितायाः ४ फलमेतत् ।

रोग-शोक-परीताप-बन्धन-व्यसनानि च ।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥

चित्रग्रीव ने कहा—मित्र हिरण्यक ! क्यों नहीं हमलोगों से बोल रहे हो ? तब हिरण्यक उसकी आवाज को पहचान कर झट से बाहर निकल कर बोला—अहा ! मैं पुण्यवान् हूँ कि मेरा प्यारा मित्र चित्रग्रीव आ गया ।

जिसकी मित्र से बातचीत होती हो, जिसका मित्र के साथ रहना होता हो और जिसका मित्र के साथ प्रीतिपूर्वक वार्त्तालाप होता हो, उससे बढ़कर यहाँ कोई पुण्यवान् नहीं ।

इसके बाद जाल में फँसे हुए इन सबों को देखकर आश्चर्य के साथ थोड़ी देर ठहर कर कहा--मित्र यह क्या ? चित्रग्रीव ने कहा--मित्र, हमलोगों की अदूरदर्शिता का यह फल है ।

रोग, शोक, पीड़ा, बन्धन और विपत्तियाँ—ये सब शरीरधारियों के अपने किये हुए अपराधों के वृक्ष के फल हैं ।

सन्धि-विग्रह--(१) कथम्+अस्मान्+न ।
(२) हिरण्यकः+तत्+वचनम्+प्रति+अभिज्ञाय ।
(३) पाशबद्धान्+च+एतान् ।
(४) अस्माकम्+अविमृश्यकारितायाः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूषिकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति। चित्रग्रीव उवाच—मित्र! मैवं १ कुरु। पूर्वमस्मदाश्रितानामेषां २ तावत् पाशांश्छिन्धि। मम पाशं पश्चात् छेत्स्यसि। हिरण्यकोऽप्याह ३—अहमल्पशक्तिः दन्ताश्च मे कोमलाः तदेतेषां ४ पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः? तत् यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति तावत्तव पाशं छिनद्मि। अनन्तरमेतेषामपि ५ बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि।

चित्रग्रीव उवाच—अस्त्वेवं ६ तथापि यथाशक्ति बन्धनमेतेषां खण्डय।

हिरण्यकेनोक्तम्। आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिवेदिनां सम्मतम्। यतः

601 धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः। 162
तान्निघ्नता ७ किन्न ८ हतं रक्षता किन्न रक्षितम्॥

चूहा चित्रग्रीव के बन्धन को काटने के लिए जल्दी से आगे बढ़ा। चित्रग्रीव बोला—मित्र, ऐसा न करो। पहले हमारे आश्रित इन कबूतरों के बन्धन को काट लो; मेरा बन्धन पीछे काटना। हिरण्यक ने भी कहा—मैं थोड़ी शक्ति वाला हूँ, मेरे दाँत कोमल हैं। तो इनके बन्धन को काटने में कैसे समर्थ होऊँगा? जब तक मेरे दाँत नहीं टूटते हैं, तब तक तुम्हारा बन्धन काटता हूँ। पीछे इन सबों के बन्धन को भी जब तक सकूँगा, काटूँगा।

चित्रग्रीव बोला—ऐसा ही हो। तो भी यथाशक्ति इनके बन्धनों को ही काटो।

हिरण्यक ने कहा अपने प्राणों का परित्याग कर अपने अधीन वालों को बचाना—ऐसा नीतिज्ञों की राय नहीं है। क्योंकि—

प्राण ही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों में ठहरने के कारण हैं वैसे प्राण को मार डालने वाले ने क्या नहीं मारा और बचाने वाले ने क्या नहीं बचाया?

सन्धि-विग्रहः- (१) मा+एवम्। (२) पूर्वम्+अस्मद्+आश्रितानाम्+एषाम्। (३) हिरण्यकः+अपि+आह। (४) तत्+एतेषाम्। (५) अनन्तरम्+एतेषाम्+अपि। (६) अस्तु+एवम्। (७) तान्+निघ्नता। (८) किन्+न।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्रग्रीव उवाच—नीतिस्तावदीदृश्येव १। किन्त्वहमस्मदाश्रितानां २ दुःखं सोढुं सर्वथैवासमर्थस्तेनेदं ३ ब्रवीमि। अयमपरश्चासाधारणो ४ हेतुः।

जातिद्रव्यबलानां च साम्यमेषां ५ मया सह।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति॥

किञ्च

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।
सन्निमित्ते ६ वरं त्यागो विनाशे नियते सति॥
यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना।
यशः कायेन लभ्येत तन्न ७ लब्धं भवेन्नु किम्॥

चित्रग्रीव ने कहा—नीति तो यद्यपि ऐसी है, किन्तु मैं अपने अधीन रहने वालों के दुःख को सहने में सर्वथा असमर्थ हूँ। इसीलिए यह कहता हूँ। फिर यह एक दूसरा कारण भी है—

जाति, धन और बल में इन कबूतरों की मेरे साथ बराबरी है। तो बतलाओ कि मेरे प्रभुत्व का, राजा होने का फल कब और क्या होगा? और भी,

बुद्धिमान अपने धन और जीवन का उत्सर्ग दूसरे के लिए कर देता है। जब विनाश निश्चित है, तो उन्हें अच्छे कार्य में लगा देना ही श्रेष्ठ है। यदि अनित्य (मरणशील) और मल ढोने वाले शरीर से नित्य (अमर) यश और निर्मल कीर्ति की प्राप्ति हो जाय, तो कौन-सी वस्तु नहीं मिली? अर्थात् सब कुछ प्राप्त हो गया।

सन्धि-विग्रहः—(१) नीति+तावत्+ईदृशी+एव।
(२) किन्तु+अहम्+अस्मद्+आश्रितानाम्।
(३) सर्वथा+एव+असमर्थः+तेन+इदम्।
(४) अयम्+अपरः+च+असाधारणः+हेतु।
(५) साम्यम्+एषां।
(६) सत्+निमित्ते।
(७) तत्+न।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्याकर्ण्य १ हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्नब्रवीत् २ । साधु मित्र साधु ! अनेनाश्रितवात्सल्येन ३ त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते । एवमुक्त्वा ४ तेन सर्वेषां बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यकः सर्वान् सादरं प्रपूज्याह ५—सखे चित्रग्रीव ! सर्वथा अत्र जालबन्धन-विधौ सति दोषमाशंक्य आत्मन्यवज्ञा ६ न कर्त्तव्या । इति प्रबोध्यातिथ्यं ७ कृत्वा आलिङ्ग्य च संप्रेषितश्चित्रग्रीवः ८ सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ । हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः ।

इतना सुन कर हिरण्यक प्रसन्न मन से, पुलकित होकर बोला—धन्य हो मित्र, धन्य हो ! इस अधीन वालों के प्यार से तुममें तीनों लोकों के स्वामी होने की योग्यता आ जाती है । ऐसा कह कर उसने सभी के बन्धनों को काट दिया । तब हिरण्यक ने सभी को आदर के साथ पूजा करके कहा—मित्र चित्रग्रीव ! इस जाल में फँसने को दोष मान कर अपनी मानहानि (अवज्ञा) न समझना । इस प्रकार समझा कर और अतिथि-सत्कार एवं आलिंगन करके उससे विदा ले कर चित्रग्रीव अपने परिवार के साथ यथेष्ट (कई, काफी) देशों को गया । हिरण्यक भी अपने बिल में प्रवेश कर गया ।

सन्धि-विग्रहः—(१) इति+आकर्ण्य ।
(२) सत्+अब्रवीत ।
(३) अनेन+आश्रितवात्सल्येन ।
(४) एवम्+उक्त्वा ।
(५) प्रपूज्य+आह ।
(६) आत्मनि+अवज्ञा ।
(७) प्रबोध्य+आतिथ्यं ।
(८) संप्रेषितः+चित्रग्रीवः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ लघुपतनकनामा वायसः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यमिदमाह १। अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि। अतोऽहमपि २ त्वया सह मैत्रीमिच्छामि। त्वं मां मैत्र्येणानुग्रहीतुमर्हसि ३। एतच्छ्रुत्वा ४ हिरण्यको विवराभ्यन्तरादाह—कस्त्वम् ५ ? स ब्रूते—लघुपतनकनामा वायसोऽहम्। हिरण्यको विहस्याह—आः ! का त्वया सह मैत्री। यतः

यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन ६ योजयेत्।
अहमन्नं भवान् भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ॥

अपरञ्च

भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेः कारणं मतम्।
शृगालात् पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः ॥

वायसोऽब्रवीत्। कथमेतत् ? हिरण्यकः कथयति—

इसके बाद सभी घटनाओं को देखनेवाले लघुपतनक नामक कौए ने आश्चर्य के साथ कहा—अजी हिरण्यक, तुम प्रशंसनीय हो। इसलिए मैं भी तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ। तुम मित्रता के द्वारा मुझे अनुग्रहीत करने योग्य हो। यह सुन कर हिरण्यक बिल के भीतर से बोला—कौन हो तुम ? उसने कहा—मैं लघुपतनक नामक कौआ हूँ। हिरण्यक ने हँस कर कहा—आः, तुम्हारे साथ क्या मित्रता ! क्योंकि—

संसार में जिससे जिसका मेल खाता है, विद्वान् लोगों को चाहिए कि उसे उसी से मिलावें। मैं आपका भोजन हूँ, आप मेरे भोक्ता (खानेवाले), तो मुझसे आप से प्रीति कैसे होगी ?

और भी—

भक्ष्य और भक्षक की प्रीति विपत्ति का कारण मानी गयी है। यही कारण है कि सियार के द्वारा जाल में फँसाया गया हिरण कौए के द्वारा छुड़ाया गया।

कौए ने कहा—यह कैसे ? हिरण्यक कहने लगा—

संधि-विग्रहः—(१) स+आश्चर्यम्+इदम्+आह। (२) अतः+अहम्+अपि। (३) मैत्र्येण+अनुग्रहीतुम्+अर्हसि। (४) एतत्+श्रुत्वा। (५) विवर+अभ्यन्तरात्+आह+कः+त्वम्। (६) बुधः+तत्+तेन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामारण्यानी १। तस्यां चिरान्महता २ स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः। स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनावलोकितः ३। तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्। आः! कथमेतन्मांसं ४ सुललितं भक्षयामि। भवतु विश्वासं तावदुत्पादयामि ५। इत्यालोच्य उपसृत्याब्रवीत्—मित्र! कुशलं ते। मृगेणोक्तं—कस्त्वम्? स ब्रूते—क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्। अत्रारण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि ६। इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि ७। अधुना तवानुचरेण मया सर्वथा भवितव्यमिति। मृगेणोक्तम् ८ एवमस्तु।

मगध देश में चम्पकवती नाम का बड़ा वन था। उसमें बहुत दिनों से बड़े प्रेम से हिरण और कौआ रहते थे। वह हिरण अपनी इच्छा से विचरता हुआ मोटा-ताजा हो किसी सियार के द्वारा देख लिया गया। उसे देखकर सियार सोचने लगा। ओह! कैसे इसका सुन्दर मांस खाऊँ? अच्छा, तब तक विश्वास उत्पन्न करता हूँ। इतना सोचकर पास जाकर बोला—मित्र, कुशल तो है। हिरण बोला—कौन हो जी तुम? उसने कहा—क्षुद्रबुद्धि नामका एक सियार हूँ। इस वन में भाइयों से रहित मरे हुए की तरह रहता हूँ। इस समय तुमको मित्र रूप में पाकर फिर से मित्रों से युक्त जीवलोक में (मैत्री के जीवनप्रद लोक में) प्रवेश पा गया हूँ। अब मैं सब प्रकार से तुम्हारा अनुचर होकर रहूँगा। मृग ने कहा—ऐसा ही हो।

संधि-विग्रहः—(१) नाम+अरण्यानी।
(२) चिरात्+महता।
(३) केनचित्+शृगालेन+अवलोकितः।
(४) कथं+एतत्+मांसम्।
(५) तावत्+उत्पादयामि।
(६) मृतवत्+निवसामि।
(७) प्रविष्टः+अस्मि।
(८) मृगेण+उक्तम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततः पश्चादस्तंगते १ सवितरि भगवति मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति। तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—सखे कोऽयं द्वितीयः ? मृगो ब्रूते—जम्बुकोऽयमस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः २। काको ब्रूते—मित्र ! अकस्मादागन्तुना ३ सह मैत्री न युक्ता। यथा चोक्तम्—

अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः॥

तावाहतुः। कथमेतत् ? काकः कथयति—

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान् पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे जरद्गवनामा वृद्धो गृध्रः प्रतिवसति। अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाहारात् किञ्चिदुद्धृत्य ४ ददति तेनासौ जीवति।

उसके बाद अंशुमाली भगवान् भास्कर (किरणों के स्वामी सूर्य) के अस्त हो जाने पर दोनों मृग के निवास-स्थान पर पहुँचे। वहाँ चम्पा वृक्ष की डाली पर सुबुद्धि नामक कौआ हिरण का पुराना मित्र रहता था। उन दोनों को देख कर कौआ बोला—मित्र ! तुम्हारे साथ यह दूसरा कौन है ? हिरण ने कहा—यह एक सियार है। हम लोगों से मित्रता की इच्छा करता हुआ आया है। कौआ बोला—मित्र ! अचानक आये हुए के साथ मित्रता ठीक नहीं। जैसा कहा भी है—

जिसका कुल और शील अज्ञात है। ऐसे किसी को रहने की जगह नहीं देनी चाहिये। क्योंकि बिलार के दोष से जरद्गव नामक गीध मारा गया।

दोनों बोले—यह कैसे ? कौआ बोलने लगा—भागीरथी नदी के किनारे गृध्रकूट पर्वत पर एक बड़ा पाकर का पेड़ था। उसके कोटर में जरद्गव नामक एक बूढ़ा गीध रहता था। उस वृक्ष के निवासी पक्षी उसके जीने के लिए अपने आहार से कुछ निकाल कर उसे देते थे, उससे वह जीता था।

संधि-विग्रह—(१) पश्चात् + अस्तंगते। (२) जम्बुकः + अयम् + अस्मत् + सख्यं + इच्छन् + आगतः। (३) अकस्मात् + आगन्तुना। (४) किञ्चित् + उद्धृत्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ कदाचिद्दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान् भक्षयितुं तत्रागतः। ततस्तमायान्तं १ दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्तैः कोलाहलः कृतः। तं श्रुत्वा जरद्गवेनोक्तम्—कोऽयमायाति २ ? दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—हा हतोऽस्मि ! अथवा—

तावद् भयस्य भेत्तव्यं यावद् भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य प्रतिकुर्याद्यथोचितम् ३ ॥

अधुना सन्निधाने पलायितुमक्षमः। भवतु तावत् विश्वासमुत्पाद्य अस्य समीपमुपगच्छामि। इत्यालोच्य उपसृत्याब्रवीत्,—आर्य्य ! त्वामभिवन्दे। गृध्रोऽवदत्—कस्त्वम् ? सोऽवदत्, मार्जारोऽहम्। गृध्रो ब्रूते—दूरमपसर, ४ नोचेद्धन्तव्योऽसिमया ५। मार्जारोऽवदत्—श्रूयतां तावन्मम वचनम्। ततो यद्यहं वध्यस्तदा ६ हन्तव्यः।

फिर बाद में, कोई दीर्घकर्ण नामक बिलार पक्षियों के बच्चों को खाने के लिए वहाँ आया। तब उसे आते देख कर पक्षियों के बच्चे भय से कोलाहल करने लगे। उस शब्द को सुन कर जरद्गव ने कहा—यह कौन आता है ? दीर्घकर्ण गीध को देखकर भय के साथ मन में कहा—हा, मैं मारा गया। अथवा

जब तक भय नहीं आया है, तब तक उसका डर करना चाहिये। आये हुए भय को देख करके तो उचित प्रतिकार ही करना चाहिए।

इस समय मैं इसके सामने से भागने में भी असमर्थ हूँ। अच्छा तबतक विश्वास उत्पन्न करके इसके पास चलता हूँ। इतना सोच कर पास जाकर बोला—महाशय ! आप को प्रणाम करता हूँ। गीध ने कहा—कौन हो तुम ? वह बोला—मैं बिलार हूँ। गीध बोला—दूर हटो, नहीं तो मार डाले जाओगे। बिलार ने कहा—पहले मेरी बात तो सुन लीजिये। तब यदि मैं मार डालने योग्य होऊँ तो मार डालियेगा।

सन्धि-विग्रह—(१) ततः+तम्+आयान्तम्। (२) कः+अयम्+आयाति। (३) प्रतिकुर्यात्+यथोचितम्। (४) दूरम्+अपसर। (५) नोचेत्+हन्तव्यः+असि+मया। (६) ततः+यदि+अहं+वध्यः+तदा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यते १ पूज्यते क्वचित् ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥

गृध्रो ब्रूते—ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि २ ?

सोऽवदत्—अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतम् आचरंस्तिष्ठामि । युष्मान् धर्म्मज्ञानरतान् विश्वासभूमय इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति । अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः । भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञाः ३ यन्मामतिथिं ४ हन्तुमुद्यताः । गृहस्थधर्मश्चैषः ।

अरावप्युचितं ५ कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरति ६ द्रुमः ॥

जाति मात्र से ही क्या कोई कहीं मारा या पूजा जाता है ? व्यवहार को ही समझ कर व्यक्ति वध्य अथवा पूजन के योग्य बनता है ।

गीध ने कहा—बोलो, किस लिए आये हो ? उसने कहा—मैं यहाँ गंगा के किनारे प्रतिदिन स्नान करके मांस-रहित भोजन करने वाला ब्रह्मचर्ययुक्त चान्द्रायण व्रत करता हुआ ठहरा हूँ । आप को धर्मज्ञान में रत, विश्वास का पात्र—ऐसा सभी पक्षी मेरे सामने सर्वदा कहते हैं । इसलिए ज्ञान और उम्र दोनों में वृद्ध हुए आप से मैं धर्म-शास्त्र सुनने आया हूँ । किन्तु आप तो ऐसे धर्मात्मा निकले कि मुझ जैसे अतिथि को मारने के लिए तैयार हैं । गृहस्थों का तो धर्म यह है—

घर आये हुए शत्रु का भी उचित सत्कार करना चाहिए, जिस तरह पेड़ अपने काटने वाले के पास से अपनी छाया नहीं हटाता ।

सन्धि-विग्रहः—(१) कश्चित्+हन्यते । (२) किम्+अर्थं+आगतः+असि । (३) भवन्तः+च+एतादृशाः+धर्मज्ञाः । (४) यत्+माम्+अतिथिं । (५) अरौ+अपि+उचितं । (६) न+उपसंहरति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि वा धनं नास्ति तदा प्रीतिवचसाप्यतिथिः १ पूज्य एव। यतः

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सुनृता।
एतान्यपि २ सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते ३ कदाचन॥

अन्यच्च

उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ४॥

गृध्रोऽवदत्—मार्जारा हि मांसरुचयः पक्षिशावकाश्चात्र निवसन्ति तेनाहमेवं ब्रवीमि। तच्छ्रुत्वा ५ मार्ज्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति ब्रूते च—मया धर्म्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेण इदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणमध्यवसितम्। यतः परस्परं विवदमानानामपि धर्म्मशास्त्राणामहिंसा परमो धर्मः इत्यत्रैकमत्यम् ६। एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः।

यदि धन न हो तो प्रेमपूर्वक वचन से ही अतिथि की पूजा करनी चाहिए। क्योंकि—

घास-फूस, भूमि, जल और चौथी चीज मीठी वाणी—ये चारों भी सज्जनों के घर में कभी कम नहीं होतीं।

और भी—

ऊँच जाति वाले के घर में नीच जाति वाला भी आ जाय तो यथायोग्य पूज्य होता है। क्योंकि अतिथि देवतातुल्य होता है।

गीध ने कहा—बिलार मांस के इच्छुक होते हैं और यहाँ पक्षियों के बच्चे रहते हैं, इसलिए मैंने ऐसा कहा। यह सुन कर बिलार भूमि को छू कर कान छूने लगा (कसम खाने लगा) और बोला—मैंने धर्म-शास्त्र को सुनकर योग्य वस्तु में निस्पृह (वीतरागी होकर) इस कठिन चान्द्रायण व्रत का आरम्भ किया है। क्योंकि आपस में विवाद करने वाले धर्म-शास्त्रों की भी 'अहिंसा परम धर्म है'—इस विषय में एकमत है। ऐसा विश्वास कराकर वह बिलार पेड़ के कोटर में रहने लगा।

संन्धि-विग्रहः—(१) प्रीतिवचसा + अपि + अतिथिः। (२) एतानि + अपि। (३) न + उच्छिद्यन्ते। (४) सर्वदेवमयः + अतिथि। (५) तत् + श्रुत्वा। (६) इति + अत्र + एकमत्यम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततोऽसौ १ दिनेषु गच्छत्सु पक्षिशावकानाक्रम्य २ कोटरमानीय प्रत्यहं ३ खादति। येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो ४ जिज्ञासा समारब्धा, तत् परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य ५ बहिः पलायितः। पश्चात् पक्षिभिरितस्ततो निरुपयद्भिस्तत्र ६ तरुकोटरे शावकास्थीनि प्राप्तानि। अनन्तरमनेनैव ७ जरद्गवेनास्माकं शावका खादिता इति सर्वैः पक्षिभिर्निश्चित्य गृध्रो व्यापादितः।

इत्याकर्ण्य जम्बुकः सकोपमाह ८—मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्यज्ञातकुलशील ९ एवासीत्। तत् कथं भवता सह एतस्य स्नेहानुवृत्तिरुत्तरोत्तरं १० वर्धते?

इसके बाद, कुछ दिन बीतने पर वह पक्षियों के बच्चों को कोटर में लाकर रोज खाने लगा। जिनके बच्चों को वह खा जाता था, वे शोक से व्याकुल हो विलाप करते हुए इधर-उधर ढूँढ़ना और पूछना शुरू किये। यह जानकर बिलार कोटर से निकल कर बाहर भाग गया। पीछे इधर-उधर ढूँढ़ते हुए पक्षियों ने पेड़ के कोटर में बच्चों की हड्डियाँ पायीं। इसके उपरान्त 'इसी जरद्गव ने हम लोगों के बच्चों को खाया है'—ऐसा निश्चित कर सभी पक्षियों ने गीध को मार डाला।

यह सुनकर सियार क्रुद्ध होकर बोला—मृग के पहले दिन तो आप भी अज्ञात कुल शील ही थे। तो कैसे आप के साथ इसका प्रेम-सम्बन्ध क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ने लगा?

सन्धि-विग्रहः—(१) ततः+असौ। (२) पक्षिशावकान्+आक्रम्य। (३) प्रति+अहं। (४) शोकार्त्तैः+विलपद्भिः+इतः+ततः। (५) कोटरात्+निःसृत्य। (६) पक्षिभिः+इतः+ततः+निरुपयद्भिः+तत्र। (७) अनन्तरम्+अनेन+एव। (८) स+कोपम्+आह। (९) भवान्+अपि+अज्ञातकुलशीलः+एव+आसीत्। (१०) स्नेह+अनुवृत्तिः+उत्तरोत्तरं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथवा

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्रल्पधीरपि १ ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥
अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

यथायं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि । मृगोऽब्रवीत्—किमनेनोत्तर-प्रत्युत्तरेण २ सर्वैरेकत्र ३ विस्रम्भालापैः सुखमनुभवद्भिः स्थीयताम् ।

यतः

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं ४ न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः ।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा ५ ॥

काकेनोक्तम्—एवमस्तु ।

अथवा—

जहाँ विद्वान् जन नहीं रहते वहाँ थोड़ा ज्ञान वाला भी प्रशंसनीय होता है । जैसे बिना वृक्ष वाले देश में रेड़ को ही वृक्ष समझते हैं ।

यह मेरा अपना है, अथवा पराया है, ऐसा ख्याल क्षुद्रबुद्धि वालों का होता है । उदार चरित्र वालों का तो सारी पृथ्वी ही परिवार है ।

जिस तरह यह हिरण मेरा मित्र है, उसी तरह आप भी हैं । हिरण ने कहा—इस सवाल-जवाब से क्या फायदा ? सभी लोग एक जगह विश्वासपूर्वक बातचीत से सुख का अनुभव करते हुए ठहरें ।

क्योंकि—

न तो कोई किसी का मित्र है, न कोई किसी का शत्रु । व्यवहार से ही मित्र उत्पन्न होते हैं और शत्रु भी ।

संधि विग्रह—(१) श्लाघ्यः+तत्र+अल्पधीः+अपि ।
(२) किम्+अनेन+उत्तर+प्रत्युत्तरेण ।
(३) सर्वैः+एकत्र । (४) कस्यचित्+मित्रं ।
(५) रिपवः+तथा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते—सखे मृग! अस्मिन्वनैकदेशे १ शस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति। तदहं २ त्वां नीत्वा दर्शयामि। तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा शस्यं खादति। अथ क्षेत्रपतिना क्षेत्रं दृष्ट्वा पाशो योजितः। अनन्तरं पुनरागतो मृगः पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत् ३ को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात् त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः? अत्रान्तरे जम्बुकस्तत्रागत्योपस्थितोऽचिन्तयत् ४—फलिता तावदस्माकं कपटप्रबन्धेन मनोरथसिद्धिः। एतस्योत्कृत्यमानस्य मांसासृग्लिप्तानि अस्थीनि मयाऽवश्यं प्राप्तव्यानि। तानि च बाहुल्येन भोजनानि भविष्यन्ति। मृगस्तं दृष्ट्वोल्लासितो ब्रूते ५—छिन्धि तावन्मम बन्धनं सत्वरं त्रायस्व माम्। यतः

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥

एक दिन एकान्त में सियार ने कहा—मित्र हिरण! इस वन के एक भाग में धान से भरपूर खेत है। उसे मैं तुम्हें ले जाकर दिखा देता हूँ। वैसा करने पर हिरण प्रतिदिन वहाँ जाकर धान खाने लगा। बाद में, खेत के मालिक ने खेत को चरा हुआ देखकर जाल फैला दिया। इसके अनन्तर फिर आया हुआ हिरण जाल में फँसकर सोचने लगा। 'मुझको यमराज के फंदे की तरह व्याध के जाल से छुड़ाने में मित्र के सिवा दूसरा कौन समर्थ है?" इसी बीच सियार वहाँ आकर और पास ही ठहर कर सोचने लगा कि अब हमारे कपट-जाल के द्वारा मनोरथ की सिद्धि हो गई। इसके काटे जाने पर मांस-खून से लिपटी हुई हड्डियाँ अवश्य मिलेंगी। वे पर्याप्त मात्रा में मेरे लिए भोजन होंगी। हिरण ने उसको देखकर खुश होकर कहा—मित्र, काट दो मेरे इस बन्धन को, जल्दी से मुझको बचाओ। क्योंकि उत्सव में, संकट काल में, अकाल में, राज्यक्रान्ति के समय, राज-दरबार में, श्मशान में जो साथ देता है, वही मित्र है।

सन्धि-विग्रह—(१) अस्मिन् + वनैकदेशे। (२) तत् + अहं। (३) पाशैः + बद्धः + अचिन्तयत्। (४) जम्बुकः + तत्र + आगत्य + उपस्थितः + अचिन्तयत्। (५) दृष्ट्वा + उल्लसितः + ब्रूते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जम्बुकः पाशं विलोक्याचिन्तयत् दृढस्तावदयं १ बन्धः। ब्रूते च—सखे ! स्नायुनिर्मिताः पाशाः। तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान् दन्तैः स्पृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत् कर्तव्यमिति।

अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्य २ इतस्ततोऽन्विष्यन् ३ तथाविधं दृष्ट्वोवाच—सखे ! किमेतत् ? मृगेणोक्तम्—अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत्। तथा चोक्तम् ४।

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्।
विपत् सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः॥

सियार जाल को देखकर सोचने लगा—यह बन्धन मजबूत तो है। फिर बोला भी – मित्र ! ताँत के बने ये जाल हैं, तो आज एतवार के दिन कैसे इनको दाँतों से छूऊँ ? हे मित्र, यदि तुम अपने मन में दूसरा नहीं समझो तो सबेरे जो तुम कहोगे, वही मैं करूँगा।

इसके अनन्तर वह कौआ साँझ की बेला हिरण को नहीं आया हुआ देखकर इधर-उधर ढूँढ़ता हुआ उस प्रकार (बँधे) देख कर बोला—मित्र, यह क्या ? हिरण ने कहा—मित्र की बातों की उपेक्षा का यह फल है। वैसा कहा भी है—

जो हित चाहने वाले मित्रों के वचन को नहीं मानता उसके पास में विपत्ति आई हुई रहती है और शत्रुओं को खुश करने वाला होता है।

सन्धि-विग्रहः—(१) दृढः+तावत्+अयम्।
(२) मृगम्+अनागतम्+अवलोक्य।
(३) इतः+ततः+अन्विष्यन्।
(४) च+उक्तम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काको ब्रूते—स वञ्चकः क्वास्ते १ ? मृगेणोक्तम्—मन्मांसार्थी तिष्ठ-त्यत्रैव २। काको ब्रूते—उक्तमेव मया पूर्वम्।

अपराधो न मेऽस्तीति ३ नैतद्विश्वासकारणम् ४।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि॥
परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं वन्धुं विषकुम्भं पयोमुखम्॥

ततः काको दीर्घं निःश्वस्य प्राह—अरे वञ्चक! किं त्वया पाप-कर्म्मणा कृतम्!

कौआ बोला—वह धूर्त्त कहाँ है ? हिरण ने कहा—मेरा मांसार्थी यहीं ठहरा हुआ है। कौआ बोला—मैंने पहले ही कहा था।

मैंने कोई अपराध किया ही नहीं है, इस हेतु भी, ऐसा समझ कर भी, दुष्टों पर विश्वास करना नहीं चाहिए। क्योंकि क्रूर नृशंसों से गुणवानों को भय तो बना ही रहता है।

आड़ में काम बिगाड़ने वाले और सामने में प्रिय बोलने वाले मित्र को ऊपर से दूध भरे हुए परन्तु अन्दर से विष भरे हुए घड़े की तरह छोड़ देना चाहिए।

तब कौआ दीर्घ निःश्वास छोड़ कर बोला—अरे धूर्त्त! कैसा पाप तुमने यह कर डाला!

सन्धि-विग्रहः—(१) क्व+आस्ते। (२) तिष्ठति+अत्र+एव।
(३) मे+अस्ति+इति।
(४) न+एतत्+विश्वासकारणम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं १ प्रदेशं गच्छन् काकेनावलोकितः। तमालोक्य काकेनोक्तम्–सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत् सन्दर्श्य वातेनोदरं २ पूरयित्वा पादान् स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। अहं तव चक्षुषी चञ्च्वा विलिखामि। यदाहं शब्दं करोमि त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे। मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः। अथासौ आः स्वयं मृतोऽसि इत्युक्त्वा मृगं बन्धनान्मोचयित्वा ३ पाशान् ग्रहीतुं सत्वरो बभूव। ततः काकशब्दं श्रुत्वा मृगः सत्वरमुत्थाय पलायितः। तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो व्यापादितः।

फिर सवेरे खेत के मालिक को हाथ में डंडा लेकर उस तरफ आते हुए कौए ने देखा। उसे देखकर कौए ने कहा—मित्र हिरण, तुम अपने को मरे हुए की तरह दिखा कर, हवा से पेट फुला कर, पैरों को कड़ा करके पड़ जाओ। मैं तुम्हारी आँखों पर चोंच से कुरेदूँगा। जब मैं शब्द करूँ तो तुम उठ कर झट भाग जाओगे। हिरण ने कौए के वचनानुसार वैसा ही किया। तब खेत के मालिक ने खुशी के मारे प्रफुल्लित नेत्र से उस प्रकार के हिरण को देखा। इसके बाद वह 'आह! तुम अपने आप मर गये हो'! ऐसा कह कर हिरण को बन्धन से छुड़ा कर जालों को समेटने में तल्लीन हो गया। उधर कौए के शब्द को सुनकर हिरण उठ कर भाग चला। उसे देख कर उस खेत के मालिक के फेंके हुए डंडे से सियार मर गया।

संधि-विग्रहः—(१) क्षेत्रपतिः+लगुडहस्तः+तम्।
(२) वातेन+उदरं।
(३) बन्धनात्+मोचयित्वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतच्छ्रुत्वा १ लघुपतनकः पुनराह २—

भक्षितेनापि भवता नाहारो मम पुष्कलः ।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवानघ ॥

हिरण्यको ब्रूते—चपलस्त्वं । चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्त्तव्यः । किञ्चान्यत् ३ शत्रुपक्षो भवानस्माकम् ।

उक्तञ्चैतत्—

८। शत्रुणा नहि सन्दध्यात् सुश्लिष्टेनापि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव ४ पावकम् ॥
दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि ५ सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ॥

यह सुनकर लघुपतनक ने फिर कहा—

आप के खाने से भी मेरा पूर्ण भोजन नहीं होगा हे निष्पाप ! आप के जीवित रहने में मैं भी चित्रग्रीव की तरह जीवित रहूँगा ।

हिरण्यक ने कहा—तुम चंचल हो । चंचल के साथ स्नेह कभी नहीं करना चाहिए । फिर, दूसरी बात यह है कि तुम हमारे शत्रु पक्ष के हो ।

कहा भी है—

मेल के द्वारा घनिष्ठ बनाए हुए शत्रु से भी सन्धि नहीं करनी चाहिए । क्योंकि खूब तपाया हुआ जल भी आग को बुझा ही देता है ।

दुर्जन व्यक्ति विद्वान् भी हो तो भी उसे छोड़ देना चाहिए । क्या मणि से भूषित सर्प भयंकर नहीं होता ? अर्थात् होता है ।

सन्धि-विग्रहः—(१) एतत्+श्रुत्वा ।
(२) पुनः+आह ।
(३) किम्+च+अन्यत् ।
(४) शमयति+एव ।
(५) विद्यया+अलंकृतः+अपि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लघुपतनको ब्रूते—श्रुतं मया सर्वम् । तथापि ममैतावानेव १ संकल्पः यत् त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयमिति । नोचेदनाहारेणात्मानं २ तव द्वारि व्यापादयिष्यामि ।

एतद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याह — आप्यायितोऽहं ३ भवतामनेन वचनामृतेन । किञ्च

रहस्यभेदो याञ्चा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य ४ दूषणम् ॥

एतद्वचनोक्तमेकमपि ५ दूषणं त्वयि न लक्ष्यते । तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव ६ । इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य विवरं प्रविष्टः । वायसोऽपि स्वस्थानं गतः । ततः प्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैर्विस्रम्भालापैश्च ७ कालोऽतिवर्तते ।

लघुपतनक ने कहा—मैंने सब सुन लिया । तो भी मेरा इतना ही निश्चय है कि तुम्हारे साथ मित्रता अवश्य करूँगा नहीं तो उपवास द्वारा अपने को तुम्हारे दरवाजे पर मार डालूँगा ।

इतना सुनकर हिरण्यक बिल से बाहर निकल कर बोला—मैं आपके इस वचन रूपी अमृत से तृप्त हूँ । और भी

गुप्त बात को दूसरे पर प्रकट करना, कुछ माँगना, निष्ठुरता, चंचल चित्त होना, क्रोध करना, झूठ बोलना, जूआ खेलना—ये मित्र के दुर्गुण हैं ।

इस कहे हुए वचन में से एक भी दोष तुम में नहीं दीखता । तो तुम्हारा ही चाहा हुआ हो । यह कह कर हिरण्यक मित्रता करके विशेष भोजनों से कौए को सतुष्ट कर बिल में घुस गया । कौआ भी अपने स्थान को चला गया । उस दिन से दोनों का समय आपस में खिलाने-पिलाने, कुशल-प्रश्न पूछने तथा विश्वासपूर्वक बातचीत में बीतने लगा ।

सन्धि-विग्रहः—(१) मम+एतावान्+एव । (२) नो+चेत्+अनाहारेण+आत्मानम् । (३) आप्यायितः+अहम् । (४) द्यूतम्+एतत्+मित्रस्य । (५) एतत्+वचन+उक्तम्+एकम्+अपि । (६) भवतः+अभिमतम्+एव । (७)कुशलप्रश्नैः+विस्रम्भालापैः+च ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—सखे ! वायसस्य कष्टलभ्याहारमिदं स्थानम्। तदेतत् परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि। हिरण्यको ब्रूते—मित्र क्व गन्तव्यम् ? वायसो ब्रूते—अस्ति सुनिरूपितं स्थानम्। हिरण्यकोऽवदत्—किं तत् ? वायसो ब्रूते—अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः। तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे १ मन्थराभिधानः कूर्मः सहजधार्मिकः प्रतिवसति। स च भोजनविशेषैर्मां २ संवर्धयिष्यति। हिरण्यकोऽप्याह—तत् किमत्रावस्थाय ३ मया कर्तव्यं मामपि तत्र नय।

एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—मित्र, कौए के लिए मुश्किल से आहार मिलनेवाला यह स्थान है। इसलिए इस स्थान को छोड़ कर दूसरी जगह को जाना चाहता हूँ। हिरण्यक ने कहा—मित्र, कहाँ जाओगे ? कौए ने कहा—एक सुनिश्चित स्थान है। हिरण्यक ने पूछा—कौन-सा है वह ? कौए ने बताया—दण्डक वन में कर्पूरगौरव नाम का एक तालाब है। वहाँ बहुत दिनों का बनाया गया मेरा प्यारा मित्र मन्थर नामक कछुआ, जो स्वभावतः धार्मिक है, रहता है। वह विशेष-विशेष आहारों से मुझे खूब मोटा कर देगा। हिरण्यक ने भी कहा—तो मैं यहाँ ठहर कर क्या करूँगा; मुझे भी वहाँ ले चलो।

संधि-विग्रहः—(१) प्रियसुहृत्+मे।
(२) भोजनविशेषैः+मां।
(३) किम्+अत्र+अवस्थाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ वायसस्तेन १ मित्रेण सह विचित्रालापसुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ। ततो मन्थरो दूरादेव २ लघुपतनकमालोक्योत्थाय ३ यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषिकस्याप्यतिथिसत्कारं ४ चकार। वायसोऽवदत्—सखे मन्थर! सविशेषपूजामस्मै विधेहि।

यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यको नाम मूषिकराजः। एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रेण यदि सर्पराजः कदाचित् कर्तुं समर्थः स्यादित्युक्त्वा ५ चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान्। ततो मन्थरः सादरं हिरण्यकं संपूज्याह—भद्र, आत्मनो निर्जनवनागमनकारणमाख्यातुमर्हसि ६। हिरण्यकोऽवदत्—कथयामि, श्रूयताम्।

इसके बाद कौआ उस मित्र के साथ विचित्र वार्तालाप के साथ उस तालाब के पास गया। तब मन्थर ने दूर ही से लघुपतनक को देख कर उठकर यथोचित सत्कार करके चूहे का भी अतिथि-सत्कार किया। कौआ बोला—मित्र मन्थर, इनकी विशेष पूजा करो।

क्योंकि ये पुण्यकर्म करनेवालों में श्रेष्ठ करुणा के समुद्र, हिरण्यक नामक चूहों के राजा हैं। इनके गुणों की प्रशंसा हजार जीभों से शेषनाग भी करने में शायद समर्थ हो सकें, ऐसा कह कर चित्रग्रीव की कहानी सुना दी। इसके बाद मंथर ने आदर के साथ हिरण्यक की पूजा करके पूछा—महाशय! निर्जन वन में अपने आने का कारण कहिए। हिरण्यक ने कहा—कहता हूँ, सुनिये।

सन्धि-विग्रह—(१) वायसः+तेन। (२) दूरात्+एव। (३) लघुपतनकम्+आलोक्य+उत्थाय। (४) मूषिकस्य+अपि+अतिथि सत्कारं। (५) स्यात्+इति+उक्त्वा। (६) निर्जनवन+आगमन+कारणम्+आख्यातुम्+अर्हसि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां परिव्राजकावसथः। तत्र चूड़ाकर्णो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति। स च भोजनावशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य १ स्वपिति। अहञ्च तदन्नमुत्प्लुत्य २ प्रत्यहं भक्षयामि। एकदा तस्य प्रियसुहृद् वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः। तेन सह कथाप्रसङ्गावस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत्। वीणाकर्ण उवाच—किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान्। चूडाकर्ण उवाच—भद्र नाहं विरक्तः, किन्तु पश्याऽयं मूषिको ममापकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति। वीणाकर्णो नागदन्तकं विलोक्याह ३—कथं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद् ४ दूरमुत्पतति तदत्र केनापि कारणेन भवितव्यम्। क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तं कारणञ्चात्र धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति।

चम्पा नामक नगरी में परिव्राजकों (साधुओं) का मठ था। वहाँ चूडाकर्ण नामक संन्यासी रहता था। वह भोजन से बचे हुए भिक्षा के अन्न के साथ ही झोली को खूंटी में टाँग कर सो जाता था और मैं उस अन्न को उछल-कूद कर प्रतिदिन खाता था। एक दिन उसका प्यारा मित्र वीणाकर्ण नाम का संन्यासी आया। उसके साथ वार्तालाप में संलग्न बैठा हुआ चूड़ाकर्ण मुझे डराने के लिए पुराने बाँस के टुकड़े से भूमि को पीटने लगा। वीणाकर्ण ने कहा—इस तरह क्यों मेरे वार्तालाप को उदासीन हो कर आप दूसरी ओर ध्यान लगाये हैं? चूड़ाकर्ण ने कहा--महाशय मैं आपकी ओर से उदासीन नहीं हूँ; किन्तु देखो न, यह अपकारी चूहा हमेशा झोली के भिक्षान्न को उछल-कूद कर खा जाता है। वीणाकर्ण ने कहा—थोड़ा बल वाला होकर भी यह चूहा कैसे इतनी दूर उछल जाता है? तो यहाँ कोई कारण जरूर होना चाहिए। थोड़ी देर विचार कर संन्यासी ने कहा—धन की प्रचुरता ही इसमें कारण मालूम होता है।

सन्धि-विग्रह--(१) नागदन्तके + अवस्थाप्य। (२) तत् + अन्नम् + उत्प्लुत्य। (३) विलोक्य + आह। (४) स्वल्पबलः + अपि + एतावद्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतः

धनवान् बलवान् लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते १ ॥

ततः खनित्रमादाय २ तेन विवरं खनित्वा चिरसंचितं मम धनं गृहीतम् । ततः प्रत्यहं निजशक्तिहीनः सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः ३ सत्रासं मन्दं मन्दमुपसर्पन् चूडाकर्णेनावलोकितोऽहम् ४ । ततस्तेनोक्तम् ५

अर्थेन बलवान् सर्वः अर्थाद् भवति पण्डितः ।
पश्यायं मूषिकः पापः स्वजातिसमतां यतः ॥

क्योंकि—

संसार में सभी जगह हमेशा धनवान् ही बलवान् होते हैं । राजा भी अपना प्रभुत्व धन के कारण ही जमा पाता है ।

तब खन्ती लेकर उसने मेरे बिल को खोद कर बहुत दिनों का इकट्ठा किया हुआ मेरा धन ले लिया । तब से प्रतिदिन मैं अपनी शक्ति से हीन, बल और उत्साह से रहित अपना आहार भी जुटाने में असमर्थ हो कर डरके मारे धीरे-धीरे जाता हुआ चूड़ाकर्ण के द्वारा देखा गया । इसके बाद उसने कहा—

सब कोई धन से बलवान् और धन से ही चतुर होते हैं । इस पापी चूहे को अब तो देखो जो अपनी जाति की बराबरी में पहुँच गया है ।

सन्धि-विग्रह—(१) राज्ञाम्+अपि+उपजायते ।
(२) खनित्रम्+आदाय ।
(३) स्व+आहारम्+अपि+उत्पादयितम्+अक्षमः ।
(४) चूडाकर्णेन+अवलोकितः+अहम् ।
(५) ततः+तेन+उक्तम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतदाकर्ण्य १ मयालोचितम्—ममात्रावस्थानमयुक्तमिदानीम् २। यच्चान्यस्मै ३ एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम् ४, यच्च याञ्चया जीवनं तदप्यतीव५ गर्हितम्। तत् किमहं परपिण्डेनात्मानं पोषयामि। भोः तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम्। यतः—

रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी।
यज्जीवति ६ तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः।

इत्यालोच्यापि ७ लोभात् पुनरपि तदीयमन्नं ग्रहीतुं ग्रहम् अकरवम्।

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः॥

इतना सुन कर मैंने सोचा—मेरा यहाँ ठहरना अब अनुचित है। यदि दूसरे से यह वृत्तान्त कहा जाय, तो भी अनुचित है। अगर याचना करके जीवन बिताया जाय, तो वह और भी निन्दनीय है। तो क्या मैं दूसरे के अन्न से अपने को पालूँ? अरे, वह तो मृत्यु का दूसरा दरवाजा है। क्योंकि—

रोगी, चिरकाल तक विदेश में रहनेवाला, दूसरे का अन्न खानेवाला, पराये के घर सोनेवाला यदि जीता है तो मरा हुआ समझो, यदि मर गया तो वही मरना उसका विश्राम है।

इतना सोचकर भी लोभ के कारण फिर भी उसने अन्न लेने के लिए (मन में) हठ किया।

लोभ से बुद्धि चलती है, लोभ अभिलाषा पैदा करता है, अभिलाषी मनुष्य परलोक और इसलोक में दुःख पाता है।

सन्धि-विग्रहः—(१) एतत्+आकर्ण्य। (२) मम+अत्र+अवस्थानम्+अयुक्तम्+इदानीम्। (३) यत्+च+अन्यस्मै। (४) तत्+अपि+अनुचितम्। (५) तत्+अपि+अति+इव। (६) यत्+जीवति। (७) इति+आलोच्य+अपि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पंस्तेन १ वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितोऽचिन्तयम् २ लुब्धो ह्यसन्तुष्टो ३ नियतमात्मद्रोही भवति।

सर्वा एवापदस्तस्य ४ यस्य तुष्टं न मानसम्।
सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम्॥
सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च ५ धावताम्॥

तदत्रावस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान्। इत्यालोच्याहं ६ निर्जनवनमागतः। ततोऽस्मत्पुण्योदयादनेन ७ मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्त्या अनुगृहीतः। अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः।

तब मैं धीरे-धीरे चलता हुआ पुनः उस वीणाकर्ण के द्वारा पुराने बाँस के टुकड़े से मार खा कर सोचने लगा। लोभी और असंतुष्ट निश्चय ही अपना बैरी होता है।

जिसका मन संतुष्ट नहीं, उसके पास सभी आपत्तियाँ हैं और जिसका मन संतुष्ट है उसके पास सभी सम्पत्तियाँ हैं।

संतोष रूपी अमृत से तृप्त शान्त मनवालों को जो सुख है वह धन के लोभी हो कर इधर-उधर दौड़नेवाले को कहाँ?

तो यहाँ अवस्था के अनुसार कार्य-निर्णय करना ठीक है। इतना सोच कर मैं निर्जन वन में आ गया। फिर हमारे पुण्य के उदय से इस कौए मित्र ने प्रेम-व्यवहार द्वारा अनुगृहीत किया। इस समय उसी पुण्य की परम्परा से आपका आश्रय मुझे स्वर्ग जैसा मिल गया है।

सन्धि-विग्रहः—(१) मन्दम्+उपसर्पः+तेन। (२) ताडितः+अचिन्तयम्। (३) हि+असन्तुष्टः। (४) एव+आपदः+तस्य। (५) कुतः+तत्+धनलुब्धानाम्+इतः+च+इतः+च। (६) इति+आलोच्य+अहं। (७) ततः+अस्मत्+पुण्योदयात्+अनेन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्ति स्म ।

अथ कदाचित् चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य १ मिलितः । ततः पश्चादायान्तं २ भयहेतुं सम्भाव्य मन्थरो जलं प्रविष्टः मूषिकश्च विवरं गतः काकोऽप्युड्डीय ३ वृक्षमारूढः । ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यवलोकितः ४ । पश्चात् तद्वचनादागत्य ५ पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः ६ । मन्थरेणोक्तम् - भद्र मृग ! कुशलं ते ? स्वेच्छया उदकाद्याहारोऽनुभूयताम् ७ । अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम् ।

इस प्रकार वे अपनी इच्छा से आहार-विहार करते हुए संतुष्ट होकर सुख से निवास करने लगे ।

बाद में किसी समय में चित्राङ्ग नामक हिरण किसी से डराया हुआ वहाँ आकर मिला । उसके बाद आनेवाले भय के कारण की संभावना करके मंथर जल में घुस गया, चूहा बिल में चला गया, कौआ भी उड़ कर वृक्ष पर चढ़ गया । तब, लघुपतनक ने बहुत दूर तक जांच कर भय का कारण कोई भी नहीं है, ऐसा देखा । पीछे उसके वचन से आकर फिर सभी मिल कर वहीं बैठ गये । मंथर ने कहा— महाशय मृग ! तुम्हारी कुशल तो है ? अपनी इच्छा से जलपान वगैरह कीजिए और यहाँ रह करके इस वन को सनाथ कीजिये ।

सन्धि-विग्रहः—(१) त्रासितः + तत्र + आगत्य ।
(२) पश्चात् + आयान्तं ।
(३) काकः + अपि + उड्डीय ।
(४) कः + अपि + अवलोकितः ।
(५) तत् + वचनात् + आगत्य ।
(६) तत्र + एव + उपविष्टाः ।
(७) उदकादि + आहारं + अनुभूयताम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्राङ्गो ब्रूते—लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः। भवद्भिःसह सख्यमिच्छामि। हिरण्यकोऽवदत् मित्रत्वं तावदस्माभिः१ अयत्नेनैव२ निष्पन्नं भवतः। तदत्र३ भवता स्वगृहनिर्विशेषेण स्थीयताम्। तच्छ्रुत्वा४ मृगः सानन्दः कृतस्वेच्छाहारः पानीयं पीत्वा जलासन्नतरुच्छायामुपविष्टः५।

अथमन्थरेणोक्तम्—सखे मृग! केन त्रासितोऽसि? अस्मिन् विजने वने कदाचिद् किं व्याधाः सञ्चरन्ति? मृगेणोक्तम्—अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नृपतिः। स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणागत्य ७ चन्द्रभागा-नदीतीरे समावासितकटको वर्त्तते। प्रातश्च तेनात्रागत्य ८ कर्पूरसरः समीपे भवितव्यमिति व्याधानां मुखात् किंवदन्ती श्रूयते। तदत्रापि ९ प्रातरवस्थानं भयहेतुरित्यालोच्य यथा कार्यं तथारभ्यताम्।

चित्राङ्ग ने कहा—शिकारी के द्वारा डराया हुआ मैं आपकी शरण में आया हूँ। आपलोगों के साथ मित्रता करना चाहता हूँ। हिरण्यक ने कहा—मित्रता तो अब तक आपकी हमलोगों के साथ विना यत्न के ही सम्पन्न हो गई। अतएव यहाँ आप अपने घर के समान ही रहिए यह सुनकर हिरण आनन्द के साथ इच्छा पूर्वक खा-पीकर जलके समीपवर्ती पेड़ की छाया में बैठ गया।

इसके वाद मन्थर ने कहा—मित्र हिरण! किससे डराये गए हो? इस निर्जन वन में शिकारी शायद घूम रहे हैं क्या? हिरण ने कहा—कलिङ्ग प्रांत में रुक्मांगद नामक राजा हैं। वे दिग्विजय कार्य के सिलसिले में आकर चन्द्रभागा नदी के किनारे शिविर गिरा कर ठहरे हुए हैं। सबेरे वे यहाँ आकर कर्पूर तालाब के समीप रहेंगे—बहेलियों के मुख से ऐसी उड़ती खबर सुनाई पड़ी है। तो यहाँ भी सबेरे ठहरना भय का कारण है। ऐसा सोचकर जैसा उचित हो वैसा कार्य आरंभ किया जाय।

संधि-विग्रह—(१) तावत्+अस्माभिः। (२) अयत्नेन+एव। (३) तत्+अत्र। (४) तत्+श्रुत्वा। (५) जलासन्नतरुः+छायायाम्+उपविष्टः। (६) अथ+मन्थरेण+उक्तम्। (७) दिग्विजयव्यापार क्रमेण+आगत्य। (८) तेन+अत्र+आगत्य। (९) तत्+अत्र+अपि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तच्छ्रुत्वा १ कूर्मः सभयमाह २—मित्र ! जलाशयान्तरं गच्छामि। काकमृगावप्युक्तवन्तौ ३—मित्र एवमस्तु। ततो हिरण्यको विमृश्याह—पुनर्जलाशये प्राप्ते मन्थरस्य कुशलं स्थले गच्छतोऽस्य कः प्रतिकारः ?

तद्धितस्य ४ वचनमाकर्ण्य महता भयेन विमुग्ध इव तं जलाशय-मुत्सृज्य ५ मन्थरश्चलितः। तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शंकमाना मन्थरमनुजग्मुः ६। ततः स्थले गच्छन् केनापि व्याधेन काननं पर्यटता मन्थरः प्राप्तः। तं च गृहीत्वोत्थाप्य ७ धनुषि बद्ध्वा धन्योऽस्मीत्यभिधाय ८ व्याधः स्वगृहाभिमुखं चलितः।

यह सुन कर कछुए ने भय के साथ कहा—मित्र ! दूसरे जलाशय को चलता हूँ। कौए और हिरण ने भी कहा—मित्र ! ऐसा ही हो। तब हिरण्यक ने विचार कर कहा—फिर जलाशय मिलने पर ही मन्थर की कुशल है। जमीन पर चलते हुए इसका क्या उपाय है ?

अपनी भलाई की ऐसी (हिरण्यक की) बात सुनकर बड़े भय से पागल हुए की तरह जलाशय को छोड़कर मन्थर चल पड़ा। वे भी हिरण्यक वगैरह प्रेमवश अनिष्ट की आशंका करते हुए मन्थर के पीछे-पीछे चले। इसके बाद जमीन पर चलते हुए मन्थर को किसी व्याध ने, जो जंगल में घूम रहा था, पाया। उसे लेकर, उठाकर, धनुष में बाँध कर, 'धन्य हूँ'—ऐसा कह कर व्याध अपने घर की ओर चल पड़ा।

सन्धि-विग्रहः—(१) तत्+श्रुत्वा। (२) स+भयम्+आह। (३) काकमृगौ+अपि+उक्तवन्तौ। (४) तत्+हितस्य। (५) जलाशयम्+उत्सृज्य। (६) मन्थरम्+अनुजग्मुः। (७) गृहीत्वा+उत्थाप्य। (८) धन्यः+अस्मि+इति+अभिधाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ ते मृग-वायस-मूषिकाः परं विषादमुपगतास्तमनुगच्छन्ति स्म १। ततो हिरण्यको विलपति।

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य २।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥
स्वभावजं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते ३।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि ४ न मुञ्चति ॥
न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ् मित्रे स्वभावजे ॥

इति मुहुर्विचिन्त्य प्राह—अहो मे दुर्दैवम्! अथवा इत्थमेवैतत् ५।

कायः सन्निहितापायः सम्पदः पदमापदाम्।
समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भंगुरम् ॥

तब वे हिरण, कौआ और चूहा बहुत उदास होकर उसके पीछे-पीछे जाने लगे। उसके बाद हिरण्यक विलाप करता है—

समुद्र के पार जाने की तरह जब तक मैं एक दुःख का अन्त नहीं करता हूँ, तब तक दूसरा उपस्थित होता है। ठीक ही कहा है, छेद के खुल जाने पर अनर्थ बहुत होने लगते हैं।

जो स्वाभाविक मित्र होते हैं, वे भाग्य ही से मिलते हैं। वे अपनी स्वाभाविक मित्रता को आपत्ति में भी नहीं छोड़ते हैं।

जैसा विश्वास स्वाभाविक मित्र पर पुरुषों का होता है, वैसा माता, स्त्री, सहोदर भाई और अपने पुत्र पर भी नहीं होता है।

ऐसा बार-बार सोच कर कहा—हाय रे मेरा दुर्भाग्य! अथवा ऐसी ही यह है—शरीर निकट भविष्य में नाशवान् है, सम्पत्तियाँ आपदाओं से पद-पद पर घिरी हैं, आने के साथ जाना लगा हुआ है, सभी उत्पन्न होनेवाली चीजें नश्वर हैं।

सन्धि-विग्रहः—(१) विषादम्+उपगताः + तम् + अनुगच्छन्ति स्म। (२) पारम्+इव+आर्णवस्य। (३) भाग्येन+एव+अभिजायते। (४) तत्+अकृत्रिम+सौहार्दम्+आपत्सु+अपि। (५) इत्थम्+एव+एतत्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह १—यावदयं व्याधो वनान्न २ निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम्। तावूचतुः३—सत्वरं कार्यमुपदिश। हिरण्यको ब्रूते—चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं ४ निश्चेष्टं दर्शयतु। लघुपतनकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन ५ लुब्धकेन मृगमांसार्थिना कच्छपं परित्यज्य सत्वरं तत्र गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। सन्निहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्।

इस तरह बहुत विलाप करके हिरण्यक ने चित्राङ्ग और लघुपतनक से कहा—जब तक यह व्याधा वन से नहीं निकल जाता तब तक मंथर को छुड़ाने के लिए उपाय किया जाय। दोनों बोले—शीघ्र काम बतलाइए। हिरण्यक ने कहा—चित्राङ्ग जल के पास जा कर मरे हुए के समान अपने को चेष्टा रहित दिखलावे। लघुपतनक उसके ऊपर चोंच से कुछ खोदे। निश्चय वह शिकारी हिरण के मांस का लोभी होकर कछुए को छोड़ कर जल्दी चला जायगा। तब मैं मंथर के बन्धन को काट दूँगा। शिकारी के समीप होते ही आप दोनों भाग जाइयेगा।

सन्धि-विग्रहः—(१) हिरण्यकः+चित्रांगलघुपतनकौ+आह।
(२) वनात्+न।
(३) तौ+ऊचतुः।
(४) मृतम्+इव+आत्मानम्।
(५) नूनम्+अनेन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततश्चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते सति स व्याधः श्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टस्तथाविधं १ मृगमवलोक्य कच्छपं जलसमीपे निधाय कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलितः। अत्रान्तरे हिरण्यकेनागत्य छिन्नबन्धनः स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविष्टः। स च मृग आसन्नं तं व्याधमालोक्योत्थाय २ द्रुतं पलायितः। उक्तञ्च

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि॥

ततोऽसौ निराशः कटकं प्रविष्टः। मन्थरादयश्च सर्वे मुक्तापदः स्वस्थानं गत्वा यथासुखमास्थिताः।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—सर्वं श्रुतवन्तः सुखिनो वयम्। सिद्धं नः समीहितम्।

तब चित्राङ्ग और लघुपतनक के द्वारा शीघ्र जाकर वैसा कर देने पर वह व्याध थका हुआ होने से जल पीकर पेड़ के नीचे बैठा हुआ उस तरह के हिरण को देख कर, कछुए को जल (तालाब) के पास रख कर छुरी लेकर प्रसन्न मन से हिरण के पास चला। इसी बीच हिरण्यक ने आकर उस कछुए का बंधन काट डाला और वह जल में घुस गया। उधर वह हिरण समीप में उस व्याध को देख कर उठकर शीघ्र भाग गया। कहा भी है—

जो निश्चित को छोड़कर अनिश्चित की ओर दौड़ता है, उसकी निश्चित वस्तु नष्ट हो जाती है, और अनिश्चित तो नष्ट है ही।

इसके बाद वह निराश होकर शिविर में चला गया। मंथर वगैरह भी विपत्ति से छूट कर, अपने स्थान में जाकर यथासुख रहने लगे।

अब राजकुमारों ने कहा—सब सुन चुके; हमलोग सुखी हो गए। हमारी मन की इच्छाएँ पूरी हुईं।

संधि-विग्रहः—(१) तरोः+अधः+तात्+उपविष्टः+तथाविधं।
(२) व्याधम्+आलोक्य+उत्थाय।

—:०:—

मुद्रक—राष्ट्रीय प्रेस, राँची—५८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi